समानान्तर

[कहानी संग्रह]

हंस कुमार तिवारी

प्रकाशक
मानसरोवर प्रकाशन
गया

आवरण—कलाकार श्री गदाधर अंबष्ठ
मूल्यः—२)

मुद्रक
शालिग्राम आचार्य
इण्डियन प्रिन्टिङ्ग प्रेस
गया

चाँद को

जिसकी चाँदनी सोने नहीं देती

बस, इतना ही

कहानी आखिर कहानी ही है। उस पर किसी तरह की सफाई भी क्या दी जाय ? जीवन-यात्रा मे जब कभी आँसू या हास ने बेतरह जी को छुआ और जी भाषा मे फूट आया, तब ये लिख गयीं। उस लिखने में अपना शौक तो कम, विवशता अधिक थी। सो एक हद तक मेरे प्रति तो कहानियों का काम पूरा हो गया है। किन्तु ये यदि आपकी भी कुछ स्नेह सहानुभूति पा सके, तो मै उसे अतिरिक्त लाभ मानूंगा। लोग कहते हैं, जीवन एक कहानी है। किन्तु इन कहानियो मे कहीं सोता-जागता जीवन यदि आपको मिले, तो मेरी बेबसी धन्य हो जाय। इसीलिए आग्रह है कि आप इन्हे कम से कम एकवार पढ़ जाने का कष्ट तो कृपापूर्वक उठाये ही।

—लेखक

सूची

अनिश्चित

यह ठीक है कि संतान के बारे में माँ-बाप की राय पर भरोसा नहीं किया जा सकता। लोग काने बेटे का भी नाम कमलनयन रख लेते हैं। लेकिन यकीन मानिये आप, मेरी नीली सुन्दर है। सुन्दरता की सही परिभाषा तो मुझे नहीं मालूम, महज़ इतना कह सकता हूं कि उसकी मौसी का दिया हुआ फ्राक पहनाकर उसे आप के आगे खड़ी कर दूँ, तो गोदी उठाये बिना आप नहीं रह सकते।

नाम तो उसका नीलिमा है, मगर मैं प्यार से नीली कहा करता हूँ। उसकी माँ उसे नीलम कहती है। मैं एतराज नहीं करता। वह ग़रीब व्याह के बाद भी विधवा जैसी सादगी से रहती है। मैं बैंक का किरानी, लाखों-लाख का हिसाब रोज करता हूँ, मगर नीली की माँ को नाक की एक मामूली कील भी नहीं दे पाया। इतने पर भी जब अपनी लाचारी चुप ही रहती आयी, तो बेटी को ही नीलम कह कर खुश हो लेने के उसके सुयोग पर क्यों बोलूँ? नीलम ही सही।

अब मौत ले लेना मेरे लिये सहज है, नीली के न होने का खयाल भी मैं नहीं सह सकता। पर सोचा करता हूँ—नीली मेरी न हो होती, तो क्या होता? गोबर में पदुम पैदा हो जाता है। यह गोबर का सुख-सौभाग्य हो सकता है। किन्तु गोबर में पैदा होना जैसा पदुम का दुर्भाग्य मुझे सह्य नहीं। मैं लाचार बाप से बेऔलाद को खुशकिस्मत समझता हूँ। कितने तो निःसन्तान धनकुवेर हैं, जिनके घर उल्लू रोता है। चाँद की टुकड़ी-सी हँसती-बोलती यह प्रतिमा वहीं कहीं होती, तो स्वर्ग का सहोदर हो जाता वह घर। मेरी नंगी बदनसीबी पर अन्धेरे का जो पर्दा था, वह भी उघर गया। ईश्वर का भी क्या न्याय है—बन्दर के भाग्य में शालग्राम और शालग्राम को बन्दर! मगर अब होता क्या है, गुदड़ी में लाल लपेटे सौभाग्य के इस दारुण दुःख को ढोना ही है।

बैंक के मालिक पैसा ही कम देते हैं, काम कम नहीं देते। सुबह दस के गये-गये दीया-बत्ती के वक्त ही छुट्टी मिल पाती है। नीली मेरे आने का वक्त पहचान गयी है। इस समय उसके खिले फूल-से मुखड़े पर बेचैन प्रतीक्षा घटा-सी घिर आती है। शरीर की सारी चेतना पैरों की आहट लेने के लिये कानों में सिमट आती है। इसीलिये बेला झुकते ही मेरा मन बैंक में नहीं रहता। बार-बार बरबस ही नजर घड़ी पर जा लगती है। बही पर आँकड़ों के बजाय नीली की तस्वीर देखने लगता हूँ। सौ कामों के बावजूद उसकी माँ शाम को गरीबी में ही उसे सजा-संवार देती है। दोनों भवों के बीच नाक के ऊपर

एक गोल बिन्दी, नीली के चेहरे को चाँद का सौतेला भाई कर देती है, आकाश के दो तंग टुकड़े-सी आँखों में मेघ की लीक जैसी काजल की रेखा……।

बैंक मुझे जाना पड़ता है, पर घर आने की मुझे उतावली होती है। जैसे ऊपर जाने में ढेला परवश होता है, गिरने की गति उसकी अपनी हुआ करती है।

आज जब बैंक से आया, तो नीली अगवानी को द्वार पर नहीं आयी। चण्डीपाठ में पहला ही श्लोक जैसे अशुद्ध हो गया! कभी ऐसा नहीं हुआ। पैरों की आहट द्वार पर होती नहीं थी कि वह द्वार पर होती थी, मानों द्वार पर बिजली का कोई बटन हो, बटन दबा नहीं कि पुतला हाजिर। मैंने भारी कदम अन्दर रखते हुए पूछा—सुनती हो, नीली कहीं गयी है क्या ?

नीली की माँ रसोई में थी। बोली—जाय कहाँ बेचारी, किसी कुल मे जाने योग्य जगह भी है अपनी ? क्या ननिहाल और क्या ददिहाल, सबका हाल एक। बोझ की तरह उतार फेंका और ठंढी साँस ली। दुर्भाग्य एक छूत का रोग है, दोस्त-अहबाब भी पास नहीं आते। घर और दरवाजा, इसी दोनों छोर पर खिलौने की गाड़ी-सी घूमती है—जाय कहाँ ?

मैंने पूछा—कहीं गयी नहीं, तो किस्मत की तरह छिप कहाँ गयी ? बात क्या है ?

वह बोली—यह उसी से पूछ देखो, बाप-बेटी के टन्टे में मैं नहीं पड़ती। वह कमरे में ही तो है बैठी।

मैंने पुकारा—नीली, इधर आ बेटा, देख, क्या ले आया हूँ....

मगर इस 'क्या' में भी उसे कोई आकर्षण नहीं मिला। न बोली, न आयी। मैंने फिर उसकी माँ से ही पूछा—क्या सिखा-पढ़ा दिया है तुमने उसे ?

वह बोली—सिखाने-पढ़ाने की मुझे क्या पड़ी है ? मैं तो पराये की बेटी ठहरी, तुम्हारे घर आयी नहीं कि सब इच्छा की एक पूर्ति सन्तोष तुमसे मिली, उसी ढाल पर सारा वार सहती आयी। अब तो जीवन किनारे के करीब भी आ रहा है। अब अपनी लाड़ली की बारी है, इसे भी जीत लोगे, तो समझूँगी। कबीर का बेटा ही कमाल हो रहा है।

दाँव देखकर पत्नी ने भी तीखा डंक मार दिया। मगर मारे डंक के मैं तो कबका संखिया बन गया हूँ, औरों के सिवाय अपनी मौत का उपाय ही नहीं। पुराने बेहया की तरह अपना ही अलाप ले बैठो—भाई, कविता में बात मत करो। मैं हिसाब का टुकड़ा खाता हूँ, दो-दो चार ही समझ सकता हूँ ....।

पत्नी ने कहा—तो मेरी लाचारी की क्या दवा है ? तुम्हारी तरह मेरे दिमाग नहीं, एक गरीब दिल है, जो एक और एक को सदा एक ही समझता रहा है, दो नहीं।

मैं बोला—यह शाम के वक्त भैरवी भी क्या ! कहो भी कि बात क्या है ?

अबकी पत्नी ने कहा—नीलम आज मुझसे बेतरह झगड़ चुकी है। बगल के बाबू साहब के बच्चों के साथ खेलने चली गयी थी। वहाँ से नया तोहफा लिये आयी - अच्छे कपड़े चाहिये, अच्छे गहने चाहिये, यह चाहिये, वह चाहिये और सारी दुनिया चाहिये। तुम्हीं कहो, गौने के बाद इन हाथों में झाड़ू के सिवाय किसी खजाने की कुंजी भी तुमने दी मुझे ? मैं क्या दूं ? अब जौ और जाँता निवट लो अपना। हिरण्यकशिपु के घर भी प्रह्लाद हो ही आता है.......।

बगल के बाबू यानी खन्ना साहब। जब कलकत्ते पर जापानी बम गिरा था, भाग कर यहाँ कुछ दिनों के लिये आ गये थे। उन्हीं कुछ दिनों में ऐसा गहरा जाल बिछाया कि मकड़ी की तरह खुद न निकल सके। लक्ष्मी के आने के उनके पास अनेक रास्ते हैं, लिहाजा अभाव का ही उन्हें अभाव है। लेकिन अपने ऊपर बेभाव की पड़ी देख मेरा माथा ठनका। ऊँट की तरह अपनी ऊँचाई देख पहाड़ से दूर ही रहता आया हूँ, अब तो पहाड़ ही पास आ गया। मगर बेचारी का क्या दोष !

मैंने जाकर उसे गोद उठा लिया। क्यों बेटी, अम्मा ने तुझे डाँटा है और पीटा भी है, क्यों ? अच्छा चल, अभी-अभी मैं उसकी खबर लेता हूँ। तू अम्मा की बेटी मत होना, हाँ। तू बाबू जी की बेटी है।

और कुछ कहते-सुनते नीली की माँ के पास गया। धबा-धब उसकी पीठ पर चार-छे लगाये। बोला—कह दे बेटी, आज

से तू माँ की बेटी नहीं है, अकेले बाबू जी की बेटी है। है न ?

माँ को ऊँ-ऊँ करते देख उसे अपनी जीत की खुशी हो आयी। बोली·······मैं तेरी बेटी नहीं हूँ, अपने बाबू जी की बेटी हूँ। न बाबू जी।

मैंने कहा—हाँ बेटा। अच्छा ले, अब कभी कुछ कहेगी, तो देख लूँगा मैं। यह लेमनजूस खा।

लेकिन घाव का मुँह ही भरा था, अन्दर टीस रह ही गयी थी। पुराना ही सुर ले बैठी······मुझे गहने चाहिये ······ मुन्नी के हैं, चुन्नी के हैं·······।

मैंने कहा—तेरे भी हो जायेंगे ···। इतने गहने ला दूँगा मैं। चल, अभी ही चल।

मैंने देखा, जी भर प्यार ही लुटा दो, तो मूल्यवान् नहीं होता। अमूल्यता में प्यार को दुनियाँ ही नहीं आँकती, नीली का कौन कसूर। आज तक उसके प्रश्नों का उत्तर और गोद ही दिया करता था, अब दो-चार गहने ही सही। उसे एक नकली जेवरों की दूकान पर ले गया। बिजली की रोशनी में झकमक झकमक! यह, वह, जो भी उसने कहा, ले दिया। दो-चार रुपये में तात्कालिक सन्तोष खरीद लिया। छुट्टी मिली!

दूसरे दिन एतवार की छुट्टी थी। फिर भी तमाम दिन मैं बाहर-बाहर घूमता रहा। शायद कोई मकान मिल जाय। अन्धकार को रोशनी के पास से हटा देना चाहता था। लेकिन

आजकल मकान भगवान् से भी दुर्लभ है। न मिला। शरीर की थकावट और मन का भारीपन लिये घर लौट आया। सोच लिया, पत्नी से कह दूँगा, खन्ना साहब के बच्चों से नीली को मिलने-जुलने न दे। इसके सिवाय बहरहाल तो इस मर्ज का कोई इलाज नहीं। घर में दाखिल हुआ, तो अन्धेरा था। पूछा—आज अन्धेरा क्यों है ?

पत्नी ने कहा—बैंक के नौकर हो, रोज-रोज लक्ष्मी की सेवा, मैंने समझा, उनके वाहन की तरह तुम्हें भी अन्धेरे में दीखता होगा ......

मैं कुछ कहूँ, उसके पहले ही वह खिलखिला पड़ी। मैंने पूछा—और नीली ?

वह बोली—खन्ना साहब के घर चली गयी। दिन भर तो उसे आँखों में रक्खा। काम में जरा भूल गयी कि देखती हूँ, गायब है। आप ही आ जायगी अभी। बच्चे का मन, बाप ने इतने अच्छे-अच्छे गहने ला दिये हैं, दिखाये बिना चैन कैसे पड़े !

मैंने कहा—लेकिन यह अच्छा नहीं है। उसे खन्ना साहब के यहाँ जाने ही न दो।

पत्नी ने कहा—तुम एक पिंजड़ा बनवाकर क्यों नहीं ले आते ? मैना की तरह उसी में दाना चुगा करेगी !

मैंने कहा—इस में नाराज होने की क्या बात है ! भले के लिये ही कहता हूँ।

वह बोली—भले के लिये कहते हो कि लाचारी। मैं समझदार थी, जैसे भी रखना चाहा, चूँ न किया। देवकी की तरह तुम्हारे कैदखाने में ही दिन काटती रही। अब उस नादान बच्ची के पाँवों अभी से बेड़ियाँ कैसे बाँध दूँ? हमजोलियों में मिलेगी ही। अब यह और बात है कि अपनी गर्दन बचाने के लिये तुम उसके पंख काट दो।

मैंने कहा—तुमने बराबर कटे पर नमक छिड़का किया है, और मरे चमड़े की चोट-सा मैं सहता रहा हूँ। क्या इस बेबसी का दर्द भी तुम्हें दुःख नही देता?

पत्नी इस पर नर्म के बजाय गर्म ही हो गयी—दुःख नहीं होता है, तो कौन मैं अदालत में मुकदमा करती रही हूँ। मैं लाचार हूँ, इसलिए सबको आँसू का घोंट पिला कर रक्खूँगा, यह कैसी इच्छा है तुम्हारी? एक ही तो है बच्ची, उसे भी पहना-ओढ़ा कर आँख का सुख न देख पायी, तो जीकर क्या करना है? अफीम भर का दाम तो तुम्हारे पास है........

अँधेरे में मैं देख नहीं सका, मगर लगा उसकी आँखें छलछला उठी हैं। मैंने और कुछ नहीं कहा और घर से बाहर निकल गया। सड़क पर पाँव ही रख रहा था कि नीली ने पुकारा—बाबू जी, मैं भी जाऊँगी। लौट कर उसे भी साथ कर लिया। बहुत-सी शिकायतें कर गयी वह। चुन्नी ने कहा, मुन्नी ने कहा, उसकी माँ ने कहा। यानी सबका सार यह कि मैंने नीली को ठग लिया है। ये झूठे गहने हैं, कौड़ी काम के नहीं आदि—इत्यादि। सब सुनता गया, गुनता

गया और चलता गया। सबके बाद एक बात नीली ने पूछी—हम बहुत गरीब हैं बाबूजी। न !

आसानी से कह दिया मैंने—हाँ बेटा, हम गरीब ही हैं।

उसने फिर कहा—तुमको पैसा नहीं है, न ?

मैंने उसी तरह कहा—हाँ, बेटा, पैसा नहीं है।

उसने पूछा—हम गरीब क्यों हैं भला ?

मैंने कहा—हमको भगवान् ने गरीब ही बनाया बेटा।

उसने कहा—भगवान् ने गरीब क्यों बनाया ?

मैंने कहा—उसकी इच्छा।

देखा, उसके निरर्थक क्या और क्यों का अन्त नही होने का। और दिन उत्तर देते मैं थकता नहीं था, आज ऊब आ रही थी। पास ही सिनेमाघर में जाकर उसे बाहर की टँगी तस्वीर दिखाने लगा।

नीली की माँग रोज बढ़ने लगी और पत्नी की जबान भी। खन्ना साहब के यहाँ से पहले दाई कई दिन शिकायत कर गयी कि मालिक बिगड़ते हैं, नीली के साथ उनके बच्चे शोहदे हुए जा रहे हैं। एक दिन खन्ना साहब से खुद मेरी ही मुठभेड़ हो गयी। मैं बैंक जा रहा था और वे आ रहे थे। उन्होंने कहा—आप ?

मैंने कहा—जी हाँ, मैं ही हूँ। कोई आज्ञा ?

वे बोले—कई दिन मैंने कहला भेजा था कि नीली को मेरे घर न आने दें,..........अब बच्ची है, निकाल देते तो नहीं बनता।

मैंने कहा—कहते बनता है, तो वह भी बन आयगा।

वे बोले—लेकिन यह तो सलूक की बात नहीं है साहब। मेरे घर अच्छे-अच्छे लोग आते हैं, जानें क्या समझते होंगे।

मैंने कह दिया—हकीकत में उसी को देखकर तो आपको ठीक-ठीक समझते होंगें लोग। कपड़ों में उसकी गरीबी है, तभी तो नाक-मुँह में गढ़न न होकर भी आपके बच्चे सब की गोद पाते हैं। यों तो नीली के पाँव में भी बहुतों को मुँह में दिखाई दे सकता है!

जले दिल से धुआँ निकल गया! वे बिगड़े और काँपते हुए बोले—मुझे दुःख है, आपने बोलने की तमीज भी नहीं सीखी। आपके जैसे दो-चार दर्जन तो मेरे यहाँ पेट पालते है।

क्रोध क्रोध से बढ़ता ही है। मैंने कहा—मेरे जैसे शायद हजारों हों, पर एक मैं आपके टुकड़ों पर नहीं पलता। पेट पालने वालों के बीच रहने से आपको आदमी के बारे में बड़ा भारी भ्रम है, माफ कीजियेगा।

उन्होंने कहा—हो सकता है। मगर मेरे भ्रम से आपकी सत्यता पर तो पर्दा नहीं पड़ता। मुझे जो कहना था, कह दिया। आपकी मर्जी।

वे दनदनाते हुए चले गये। मैं फिर घर की ओर लौट आया। देर हो रही थी। पत्नी से आदेश के स्वर में कह दिया, देखना, नीली खन्ना के यहाँ न जाय। आज आकर

अगर सुना कि वह वहाँ गयी है, तो टाँगें तोड़ दूँगा और चला गया।

शाम को घर आया, तो पत्नी द्वार पर ही मिल गयी, जैसे मेरा ही इन्तजार कर रही थी। चेहरे पर नजर पड़ते ही बोल उठी—तुम्हारे घर तो मर जाऊँ, तो खबर भी न दे पाऊँ। और तो कुछ तुमसे पाने को रहा, अब दुनियाँ भर के लोग घर चढ़कर अपमान भी कर जाने लगे।

आज जाने किसका मुँह देख कर जगा था। सुबह से फजीहत-ही-फजीहत थी। खन्ना साहब से कहा-सुनी, देर से बैंक गया, वहाँ भी लानत-मलामत।

अब यहाँ जाने क्या हुआ। मैंने पूछा—क्यों, यहाँ क्या हुआ?

—यहाँ जो न होना था, सो हुआ। खन्ना साहब खुद दरवाजे पर आकर जो मुँह में आया, कह गये। गरीब की बीवी सबकी भौजाई!

—खन्ना साहब अकारण क्यों कह गये?

—सो तो वे जानें। मगर सब कुछ कह गये। और बहाना यह लगाया कि नीलम क्या तो उनकी चुन्नी की सोने की बाली चुरा लायी है।

—नीलम चुरा लायी है?

—नहीं-नहीं, आज नीलम को मैंने दरवाजे से बाहर पाँव भी नहीं रखने दिया!

तलवे से सर तक जल उठा। उन्हीं पाँवों मैं लौट गया। गया सीधे खन्ना साहब के दरवाजे पर। आवाज दी—खन्ना साहब है ?

अन्दर ही थे। दरवाजा खोल कर सामने निकल आये—कौन ?

मुझ पर नजर पड़ते ही बोले—क्या चाहते है आप ?

मैंने कहा—यह आप खूब समझते हैं कि मैं जो चाहता हूँ, वह आपके पास नहीं है यानी आदमियत।

उन्होंने कहा—आप सींग बाँधकर मुझसे क्यों लड़ने आये हैं। जो जी में आवे कीजिये जाकर।

मैं बोला—जो जी में है, वह अगर करूँ, तो आपकी बीवी विधवा हो जायगी। इतनी इन्सानियत मुझ में है कि एक औरत के लिये आपको जान की भीख देता हूँ।

खन्ना साहब ने कहा—औकात के बाहर मत जाइये, इसका अंजाम सोच लीजिये।

मैंने कहा—गरीब की औकात पैसे नहीं, जान होती है। तुम्हारी जान लेकर वह जायगी, तो खुशी होगी। बेईमान, सूने घर में एक पराई औरत को गाली देते तुम्हारी जीभ नहीं रुकी। सूदखोर।

आस-पास के दो-चार आदमी जुट आये। बीच-बचाव करते हुए बोले—जाने दो यार, किस कमीने से बात करते हो। दूकान पर गौशाले का डब्बा रक्खे हुए है और फौज में गो-मांस सप्लाई करता है! इन पापियों की छाया छू जाये तो

पाप लगे। इस रावण की लङ्कापुरी में तुम विभीषण से आ कैसे गये ? जाओ।

सुबह ही मैं नीली और उसकी माँ को मायके रखने गया, गो कि इसमें मुझे आन्तरिक पीड़ा हुई। इस घर को छोड़ दिया। बहरहाल धर्मशाले में रह रहा हूँ। एक ऐसा मुकाम खोज रहा हूँ, जहाँ अमीरी के चिराग के पेंदे में अन्धेरे की तरह गरीबी गाढ़ी न हो। आज तक तो वह न मिला। सुनते हैं, सप्तर्षि आकाश में एक युग से ऐसी जगह की तलाश में हैं, जहाँ कभी कोई लाश न जली हो। आज तक वे वैसी जगह नहीं पा सके। पता नहीं, मुझे भी वैसा मुकाम मिलेगा या नहीं।

पेशकार साहब

पेशकार साहब से शायद आप की भेंट नहीं है। अच्छे खासे जीव हैं। कभी मिलिये तो मजा आ जाय। जवानी में तो देखने ही लायक जवान निकले थे। मगर अब, जैसे सूद से रकम मोटी हो जाती है, वैसे ही औसत से अधिक निश्चिन्तता होने से तन्दुरुस्ती को तोंद हो आयी है। रेखा में महज लम्बाई होती है, उनमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, सब है। है नहीं गठन का संयम। वह हो भी तो कहाँ से। उम्र ही आयी, तिस पर घड़ी की सुई की तरह बँधे घेरे में घूमते रहना। खुलने से पहले ही अदालत जाते हैं, बन्द होने के घन्टों बाद लौटते हैं। इस अयोध्या और जनकपुर के सिवाय भी कोई रास्ता है, यह उन्हें नहीं मालूम। न तो घर और अदालत को छोड़ उनके लिये तीसरा मंदिर है, न पैसा और कान्ति की माँ अर्थात् उनकी बीवी के अतिरिक्त और कोई देवता। धन की साधना उनका धर्म है, सो मवक्किलों के आगे हाथ फैला ही रहता है। आराधना के सिवाय देवी सन्तुष्ट नहीं, इसलिये बन्द मुट्ठी के वरदान को हाथ जोड़े रहना पड़ता है। इस एकनिष्ठ साधना-आराधना का जो फल होना चाहिये, हुआ भी वही है। प्राणों का प्राचुर्य जैसे कला होकर फूट पड़ता है, पेशकार साहब की जेब का अजीर्ण ऐश्वर्य

बन बैठा है। कई किता मकान, जगह-जमीन, सोना-चाँदी, यह 'वह' सब कुछ। कल जिसकी कोई हस्ती न थी, आज उसको हैसियत है।

भगवान क्षति की पूर्ति किया करते हैं। बहरे की आँख तेज होती है, यह उसकी इसी चेष्टा का नतीजा है। इसी तरह जिसे ईमान कम देते हैं, उसे जबान भरपूर दे देते है। हमारे पेशकार साहब के लिये भी उसके इस नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ। जिस आलीशान तिमंजिले में आप रहते हैं, उसका नाम आपने रक्खा है पर्णकुटी! अक्सर कहा करते हैं यों तो महकमा ही बदनाम है, मुझे लोग दूध का धोया क्यों मानेंगे? मगर ईश्वर जानता होगा, जो हराम की एक पाई भी कभी छुई हो मैने। बल्कि खुद मुन्सिफ साहब कहा करते हैं, तिवारी जी, सधुअई ही करनी थी, तो हिमालय की ओर गये होते। कलारी के हाथ दूध की बोतल ही हो, तो क्या! अजी जिसके दो-चार बाल बच्चे हैं, उसका कर्तव्य ही यही होता है। मगर नहीं, पाप पाप ही है। बाप हीं क्यों न कहे, पाप मुझसे नहीं होता। संगी-साथी सब हँसते हैं मुझपर कि लंका में विभीषण हो गया हूँ मैं।

अगर आपको कभी साबका नहीं पड़ा है, तब तो कोई बजह हीं नहीं कि पेशकार साहब की बात को आप सच न मानें। लेकिन जो एक बार भी उस तीरथ से हो आया है, वह जानता है कि पंडों को अँगूठा दिखाकर बाबा बैजनाथ के दर्शन तो सम्भव हैं, पेशकार साहब का पावना चुकाये बिना

अदालत की बैतरनी नहीं पार हो सकती। खैर। इन बातों को जाने दें।

पेशकार साहब की गृहस्थी मुख्तसर है। खुद अपने, इकलौती बेटी कान्ति और कान्ति की माँ। बस। कान्ति दिन-दिन सयानी हो आयी है, अब तक उसकी पीठ पर दूसरी सन्तान की आशा नहीं दिखायी दी। दवा-दारू, देवता-पितर चलता रहा है। सब बेकार होता गया है। माँगे बिना राय देनेवाले लोग कब से दूसरे ब्याह की सलाह दे रहे हैं। कहते हैं, जिगर की टुकड़ी तो बेटा भी है, पर वह लँगड़े जीवन की लाठी नहीं हो सकती। परायी थाती ठहरी, आज सहेज कर रखो, कल माथे उठाकर दे आना है। न भी दे आना पड़े, तो शास्त्र का बचन है, बेटे के बिना पितरों का उद्धार नहीं होता। इतनी-इतनी दौलत तुम्हारे पीछे कोई भोगनेवाला भी तो हो—अपने-बिराने लूट खायेंगे।

पेशकार साहब ने शास्त्र नहीं पढ़ा। पितरों के उद्धार की भी बात नहीं सोचते। मगर एक अभाव है, जो सदा मन में सुगबुगाता है। कोई जब ऐसी चर्चा करता है, तो वह असन्तोष और भी जीवन्त हो उठता है। दूसरे ब्याह की बात खुद भी सोचते हैं। मगर कान्ति की माँ के आगे आते ही यह प्रस्ताव मन में गिर जाता है। कान्ति की माँ भी बेटा चाहती है, सौत नहीं चाहती। सो अक्सर कहा करती है, जो बेटा, सो बेटी। फलाँ को देखो, अमुक को देखो—उसके भी तो बेटी ही है। उसके कौन पितर तड़पते हैं? देख-सुनकर अच्छे पात्र के हाथ

कान्ति को सौंपो और बेटी को घर बसा लो। भक्ति से तो नहीं, भय से पेशकार साहब वैसा ही सोच लेते हैं। दो-तीन बार चुपके-चुपके अपने बहनोई को भी बुलवाया। बहनोई साहब बंगाले की ओर रहते हैं। ल्याकत वाले हैं, जबान में दलाल की कला है। पेशकार साहब ने सोचा, शायद वे कान्ति की माँ को राजी कर लें। बहनोई साहब ने बार-बार सर मारा, कान्ति की माँ ने इनकी बोलती बन्द कर दी। बोली, साहब, बाँझ तो मैं हूँ नहीं। होती, तो कान्ति कैसे होती ? तब से फिर कोई सन्तान मेरे ही कारण नहीं हुई, यह कैसे मान लूँ ? आपके साले साहब की भी त्रुटि हो सकती है। उन्होंने यह तो कभी नहीं कहा कि हाँ, कान्ति की माँ, तुम अपनी दूसरी शादी कर लो कि पितृउद्धार के लिए पुत्र-सन्तान आये। शास्त्र की दुहाई केवल हमी लोगों के लिए है ? कदुआ पर सितुआ चोखा !

बहनोई साहब दुम दबाये खिसके।

लाचार आज तक कुछ हुआ-हवाया नहीं। पूरे लाड़-प्यार में कान्ति पलती रही। बेटे जैसी ही शिक्षा-दीक्षा, गीत-वाद्य की तालीम सब दी गयी। एक दिन शुभ घड़ी में कान्ति का ब्याह भी कर दिया गया। दामाद ससुराल में ही बसने लगे और चार-पाँच साल में ही नाना की दाढ़ी-मूँछ से खेलनेवाले नाती-नतनी का आविर्भाव हुआ। बच्चों की हँसी से, किलकारी-क्रन्दन से घर भर गया। कान्ति की माँ खुश रहने लगी, लेकिन पेशकार साहब किसी अलक्षित वेदना से पीड़ित रहने

लगे। ससुराल में बसनेवाले दामाद जैसे मिल सकते हैं, वैसा ही उन्हें भी मिला था। कुछ ही दिनों में उनके गुण-गौरव का पर्दा उठने लगा और पेशकार साहब दुखी रहने लगे।

अब पेशकार साहब पचास के हो आये हैं। उम्र के हिसाब से सब समय मन को नहीं नापा जा सकता। कम से कम पेशकार साहब को देखकर यह प्रमाणित होता है। इधर अचानक एक दुर्घटना हो गयी। कान्ति की माँ ने खाट पकड़ी और दवा-दारू का विशेष अवसर भी न दिया कि चल बसी। जाते-जाते आँखों में सारी दुनिया की करुणा बटोर कर बोलीं—देखो, मेरे न रहने से तुम्हें कष्ट तो होगा, मगर मेरा अन्तिम अनुरोध रखना। इस उम्र में अब ब्याह न करना। आँखें छलछलाते हुए पेशकार साहब ने मौन सम्मति दिखायी। मगर बेचारी कान्ति की माँ क्या जाने कि संसार में शाहजहाँ बहुत नहीं मिलते। वह इसी विश्वास को लेकर शान्ति से मर सकी, यही बहुत है। श्राद्ध के दिन पार हुए नहीं कि पेशकार साहब सबके आगे रोने लगे—गिरस्ती ही मिट्टी हो गई। एक देख-भाल करने वाली के बिना यह संसार ही लुट गया।

पेशकार साहब समझ रहे थे कि उनकी करुणा से लोग हमदर्द होंगे और अब दूसरे ब्याह की बात जरूर उठायेंगे। किन्तु ठीक उलटा हुआ। सब ने हमदर्दी तो जरूरत से ज्यादा ही दिखायी, पर ब्याह का समर्थन किसी ने नहीं किया। पहले जो लोग ब्याह की ताईद किया करते थे, आज वही

कहने लगे, भला अब कोई ब्याह की उम्र है! दुःख तो वास्तव में बहुत हुआ, किन्तु जिसके इतनी बड़ी बेटी—कोई दिन में बेटी की बेटी भी व्याहने योग्य हो जायगी, उसकी भी शादी क्या! इस बुढ़ापे में गले में घंटा बाँधना नहीं शोभता। जो हम उम्र हैं, वे वृद्धस्य तरुणी भार्या ···" की कहानी कहने लगे। कुछ ने मजाक भी शुरू कर दिया—सत्तर-अस्सी की अवस्था में तो अंग्रेजों के सन्तान होती है और क्या पचास ही में हमारे पेशकार साहब बूढ़े हो गये? बुढ़ापे में ही तो लकड़ी का सहारा चाहिए, जवानी तो झांक-ताक में भी कट सकती है।

लाख अन्धड़-तूफान में भी कंपास की सूई जैसे जगह पर ही आती है, इतनी विपरीत आलोचानओं में भी पेशकार साहब की आकांक्षा ब्याह पर लगी रही। दाँत में कुछ लग जाने से जीभ वहीं लगी रहती है। इधर बहिन-बहनोई भी आ गये हैं। अपने अपने ही होते हैं। बहिन भला भाई के दुःख को कैसे बर्दाश्त कर सकती है? वह ब्याह की बात ले बैठी और पति पर यह भार दिया कि जहाँ हो, जैसे हो, भैया का ब्याह ते करें। सिन्दूर बिना माँग, बहू बिना गृहस्थी भी हो सकती है भला! इतना धन, इतनी सम्पत्ति, इनका क्या होगा? और भैया की देख-रेख ही कौन करेगा? आज तक घर-गृहस्थी का तिनका भी उन्होंने अपने हाथ से नहीं हिलाया। कचहरी और कचहरी। अब समय पर दो मुट्ठी अन्न, आड़े वक्त दो बूँद पानी कौन दे? दामाद तो अपने

जैसा आप ही है। वह ससुर की क्या करेगा, उसी का जो न करे। दुनिया चाहे जो कहे, यह ब्याह होकर रहेगा। बेटी ने अपनत्व का आश्वासन दिया, दामाद ने साम-दाम दिखाया, दुनिया अलग टांय-टांय करती रही, पेशकार साहब बहनोई की कृपा से बेटी से भी कम उम्र की एक लड़की को ले आये। बहिन ने नई बहू की ठोढ़ी पकड़कर कहा—अहा, क्या रूप है! भगवान ने भाग्य भी दिया है कि इस सुख के संसार में आयी। अब राज करो, जुग-जुग जिओ।

कीमती कपड़ों और बहुमूल्य गहनों से लदी हुई बहू अपना रूप तो आईने में जनम से ही देखती रही है, अपने स्वरूप पर आज वह मौन है। भाग्य और दुर्भाग्य के बीच की दीवार का विचार वह नहीं कर सकती। इतिहास शहीदों का लेखा रखता है, पिता की गरीबी की आग में बलिदान होनेवाले ऐसे जीवित मृतों पर दो बूंद स्याही खर्च नहीं करता। सोने-चांदी पर जीवन के अमृत का सौदा समाज किया करता है, दाम पर वह प्रेम का क्रय-विक्रय कर सकता है, आँसू की मौन वेदना को मापने का कोई यन्त्र उसके पास नहीं। वह मरण को मूल्य मानता है, जीते जी अनेक को मार कर अपने महान् पाप का उसे क्षोभ नहीं।

नई बहू का नाम है शैल। मुश्किल से सोलह की है। सोलह की हर स्त्री अच्छी लगती है, फिर शैल तो सुन्दर है ही। गँवई गाँव की लड़की। भोली-भाली। उसके चेहरे पर मन के भाव को पढ़ना मुश्किल है। उसका सूनापन सुख-दुख की

छाया के परे है। पेशकार साहब ने ताजिन्दगी एक से एक काइयाँ की गिरह खोली है। इस भोली बालिका का जी गलाने की फिक्र क्या करें। पौरुष के एक से एक बढ़कर हथियार वे निकालने लगे हैं। आदमकद आईने के आगे बार-बार बनते-सँवरते हैं। पहले, माह में एक बार बाल बनवाते थे, अब हर हफ्ते। मूँछें शुक्ल जी जैसी झबरी थीं, अब अभिनेता की तरह नोकदार। जब-तब ताव देते हैं,। चलते हैं, तो याद रखते हैं कि छाती फूली रहे। गजल गुन-गुनाते हैं, जवान और जवानी की बातों में मुवक्किलों से ज्यादा दिलचस्पी आ गयी है। धुले कपड़े दुबारे नहीं पहनते। अंडे खाते हैं, फल खाते हैं, दूध पीते हैं। अब दोस्तों की नेक सलाह से शाम को एकाध पेग 'वह' भी। नशे से आँख में गुलाबी आती है, तो समझते हैं, पुराना जमाना लौट आया है। सुरूर तड़पता है, तो सोचते है जवानी बेताब हो रही है। बेटी-दामाद को घर विदा कर दिया है। घर की कुंजियाँ, कुंजियों के पहरे की सारी पूंजी शैल के हाथों सौंप कर हर हाव-भाव से जता दिया है, देखो, यह सब कुछ तुम्हारा है—मैं भी।

इस इतने सब अभिनय का दर्शक एक है, महज एक, शैल। किन्तु वह भी मूर्ति-सी निर्विकार रहती है। वेदना उसे बोलने नहीं देती। पेशकार साहब रोज-रोज उपहार ले आते हैं। शैल ग्रहण किये लेती है। इनकार का भी एक शब्द नहीं खर्च करना चाहती। दोनों जून भोजन बनाती है, परोस

कर पेशकार साहब को खिलाती है। लगता है, यह सब कर्त्तव्यगत नियम पालन है।

पेशकार साहब घाघ हैं। पचास बरस से दुनिया देख रहे हैं। जानते हैं, आते-आते ही उर्दू जबाँ आती है। शैल भी एक दिन रास्ते पर आ जायगी। हर नई बहू को झिझक होती है। कान्ति की माँ को भी तो हुई थी। दिनों तक वह दूर-दूर रही थी। अखबारों में पढ़ कर उन्होंने सिद्ध वशीकरण यन्त्र भी मँगाया। परन्तु शैल उसी लीक पर रही। एक रात उन्होंने जल कर कहा—तुम यहाँ सुखी नहीं हो शैल, क्यों ?

शैल ने कहा—सुखी तो हूँ। माँ-बाप ने आपका मुख नहीं, सुख देखकर ही तो ब्याहा है, सुखी क्यों न होऊँगी।

—नः, सुखी होती, तो तुम्हारे ओठों पर कभी हँसी की रेखा भी तो देख पाता।

शैल ने कहा—हँसी की रेखा का सम्बन्ध सुख से नहीं है, आनन्द से है। सुख प्रतिदिन की वस्तु है और आनन्द के क्षण कभी-कभी ही आते हैं। सुख में खोने की आशंका होती है, आनन्द कुछ लुटा कर ही मिलता है। मैंने पाया है, सो सुख की क्या पूछना। अभी मैंने कुछ लुटाया नहीं है, सो तृप्ति का हास आप कैसे देख सकते हैं ?

मुवक्किलों से तोल-मोल करते रहनेवाले पेशकार साहब इन बातों का मर्म क्या समझते। एक बात उन्होंने समझी कि शैल का यह मौन रहना उस सन्नाटे-सा है, जो आँधी आने

के पहले वतावरण में रहा करता है। कुछ देर को वे मौन हो रहे। गँवई गाँव की बालिका के इन वाक्यों ने उन्हें अवाक् कर दिया। थोड़ी देर में उनकी ज्वाला मोम-सी ढल आयी। बोले—तुम्हारे सुखों के लिए मेरी बेचैनी की हद नहीं, किन्तु मेरे लिये भी तुम्हारा कोई कर्त्तव्य है ?

—जो कर्त्तव्य है, उसकी मुझे याद भी है, उसका मैं पालन भी कर रही हूँ, आप भले न जाने। इस इतने बड़े संसार में आपकी बेटी-सी न होकर मैं आपकी पत्नी बन सकी हूँ, यह दुस्साहस कर्त्तव्य के सिवा कौन करा सकता ? बाप ने मुझे गहनों पर बहाया, गहनों को मैं अपनी कीमत की तरह संजोती हूँ। मेरे सुख के लिए आप बेचैन हैं, क्योंकि उसी में आपका सुख है। अपने सुख की हिफाजत से ही मैं सन्तुष्ट हूँ, इसी-लिये आपके सुख के लिये शायद मुझमें बेचैनी नहीं।

पेशकार साहब का हाल बुरा हो गया। उनका सपनों का किला शत्रुओं ने जैसे धूलिसात कर दिया। बड़ी देर में इस आघात को सम्हाल कर बोले—अगर आज तुम इस गलती को महसूस करती हो, तो क्या हो सकता है ? पहले विरोध करती तो कुछ हासिल होता।

शैल इस्पात की धार-सी झुकी नहीं। कहने लगी—गलती से जहर का प्याला कोई ओठ तक ले आये और तब मालूम हो, तो क्या उसे पी ही लेना चाहिये ? भूल जब भूल मालूम हो, तभी उसका प्रतिकार होना चाहिये।

पेशकार साहब ने कहा—मगर अब हो क्या सकता है प्रतिकार ? जो होना था, सो तो हो चुका।

—यह छूटा हुआ तीर या निकली हुई बात तो है नहीं कि लौट न सके। कुमारी न रह सकी, यही न ? अपने को विधवा तो समझ ही सकती हूँ। देश की अगणित अभागिनें कर्तव्य की इस नरकाग्नि में जल रही हैं, शैल भी एक होगी और क्या। शायद समाज के इस पाप का घड़ा भरने में एक मेरी ही कमी रही हो।

शैल का भोला चेहरा तपे ताँबे-सा तमतमा उठा। पेशकार साहब क्षोभ, क्रोध और ग्लानि का घूँट पीकर एक ओर चले गये।

पेशकार साहब में इधर कुछ परिवर्तन आ गया है, वह परिवर्तन और कुछ नहीं, एक राजनैतिक चाल है। दूरी में आकर्षण होता है, अभाव में भूख होती है। शायद लापरवाह हों, तो शैल के विचार बदलें। शैल लेकिन वैसी ही है। लगता ही नहीं कि उस पार से कोई तूफान गुजरा है। पेशकार साहब होते हैं, तो वह कैदी-सी बँधी-बँधी लगती है। वे बाहर गये होते हैं, तो वह खुश रहती हैं। कई दिनों से सड़क के उस पार वह एक फटेहाल नवयुवक को देखा करती है। चढ़ती उमर है, किन्तु गिरी हुई सेहत। निकम्मा-सा बैठा रहता है। आवारागर्द। लिखा-पढ़ा नहीं है शायद। कोई काम-धाम भी करता हुआ नहीं मालूम होता। इस पर कोई औरत मर नहीं सकती, जी भी नहीं सकती शायद। शैल

अपनी खिड़की से जब-जब सड़क की ओर देखा करती, वह कहीं न कहीं जरूर दिखायी देता। और दिन सड़क देखते वह दिखायी देता था, आज उसी को देखने की इच्छा से शैल ने सड़क की ओर देखा। उस पर नजर पड़ते ही हाथ के इशारे से उसे बुलाया। कुछ अजीब हिचक, कुछ अजीब उत्सुकता लिये वह आया। शैल ने पूछा—तुम्हारा नाम ?

'ललित'—संक्षेप से जमीन देखते हुए उसने उत्तर दिया।

—कौन-सा घर है तुम्हारा, क्या करते हो ?

—यहाँ वह देखिये, वह लाल घर मेरे मामा का है। उन्हीं के बच्चों को देखता हूँ, सौदा-पानी कर देता हूँ। उसी के बदले रोटियाँ मिल जाती हैं। मगर आपको मुझसे क्या काम है ?

शैल ने हँस कर कहा—खूब, क्या किसी को जानने की इच्छा केवल काम से ही हो सकती है ? सच पूछो, मैं तो निकम्मा जानकर ही तुम्हें जानना चाहती हूँ। जानना चाहती हूँ कि तुम पराये टुकड़ों पर कैसे पल सकते हो ?

अनाम युवक ने इस तीखे व्यंग में अप्रत्याशित आत्मीयता पायी। उसने विगलित होकर कहा—छुटपन से ही अनाथ हूँ। यहीं पनाह मिली थी। तब से यहीं हूँ। और कोई चारा भी तो नहीं।

शैल बोली—जो सचमुच ही अनाथ हैं, उनके नाथ भगवान् होते हैं। मैं अनाथ नहीं हूँ, मगर यकीन मानो, मुझसे बेचारी कोई नहीं।

युवक इस विचित्र नारी-मूर्ति की बातों से अभिभूत हो गया। फिर क्या कहकर बातों का सिलसिला जारी करे, सोचने लगा—कि शैल ने कहा—ये दो सौ रुपये लो, कोशिश करो, अगर इससे अपने लिये कुछ कर सको।

रुपयों के लिये संकोच से युवक के हाथ बढ़ नहीं सके।

एक प्रकार से जबर्दस्ती ही शैल ने उसे रुपये दे दिये—प्रतिवाद का भी खास मौका नहीं दिया और बोली—तो अभी जाओ। कल बुलाऊँ, तो आना। हाँ!

युवक से 'हाँ-ना' भी न कहा गया। अपराधी की नाईं दबता हुआ वह चला गया।

शाम जब पेशकार साहब अदालत से आये, तो जासूस-सी शैल पर दूर-दूर से नजर रखनेवाली दाई ने दिन का वाकया कहा। दिन की अन्तिम आभा अभी बाकी ही थी—क्षितिज पर सन्ध्या की प्रतीक्षा थी। अब पेशकार साहब देर से अदालत जाते हैं, समय से पहले लौटते हैं। दाई ने जो कुछ कहा—वह सहने की बात नहीं थी। भरे बारूदखाने की तरह वे अन्दर पहुँचे और पहुँचते ही शैल से कहा—तो तुम अब इसी पर तुली हो कि समाज में मेरी नाक भी न रहे।

शैल ने उत्तर दिया—दूसरों के चलते जिनकी नाक रहती है, समझना चाहिये उसके नाक ही नहीं। औरतों का सतीत्व और मर्दों की नाक अपने ही रखे रह सकती है। मगर हुआ क्या?

बिगड़ कर पेशकार साहब ने कहा—और हमीं से पूछती हो कि हुआ क्या ? आज दोपहर किस युवक से बातें कर रही थीं तुम ? क्यों कर रही थीं ?

शैल ने ताना दे कर कहा—नदी को चोटी की ओर चढ़ा लिया, तब आपको ताज्जुब नहीं हुआ, वह जब ढालवें की ओर जाती है, तो आपको क्रोध क्यों होता है ?

कटे पर जैसे नमक पड़ गया। पेशकार साहब बोले—समाज में मैं मुँह दिखाने लायक नहीं रह गया हूँ। तुम.......

शैल ने कहा—बेटी से भी छोटी एक बालिका को ब्याह कर जिसे कभी नक़ाब डालने की जरूरत नहीं पड़ी, जिसने शृंगार करके आईने में मुँह देखा और समाज को दिखाया, उसका मुँह सदा ही दिखाने लायक है।

आपे से बाहर होकर पेशकार साहब बोले—आखिर तुम्हारा इरादा क्या है ?

शैल बोली—उसका पता तो मुझे भी नहीं। मगर कोई खास इरादा नहीं।

—तुम्हारी ये हरकतें बर्दाश्त से बाहर हैं। तुम मेरी स्त्री हो, ब्याहता हो—मैं जैसे चाहूँ, तुम्हें उस तरह ही रहना है। मेरी भलाई-बुराई का खयाल रखना ही तुम्हारा धर्म है।

—अपना धर्म मैं नहीं जानती। अपना पाप समझती हूं। धर्म चाहे न हो सके, पाप नहीं कर सकूँगी। आप जैसा समझें।

दृढ़ निश्चयता दिखाते हुए पेशकार साहब ने कहा—अगर तुम बाज नहीं आयी तो तुम्हें पछताना पड़ेगा। याद रखो।

शैल ने कहा—मौत की दुम में जीवन को बाँध कर जब मनुष्य खुश रह सकता है, तो और किसी हालत में पछताना उसकी बुद्धिमत्ता नहीं। आप जो भी करेंगे, इस नर्क-कुण्ड से वह अच्छा ही होगा।

और शैल वहाँ से चली गयी। पेशकार साहब आकाश-पाताल सोचने लगे। और उसी समय अपने बहनोई को एक तार दिया—जरूरी काम है। पहली गाड़ी पकड़ कर आओ। बाहर जाकर तार लगाने को दे आये। देखा, शैल सड़क की ओर खिड़की पकड़ कर खड़ी है। उसके समीप जाकर स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—तुम्हें क्रोध है और वह क्रोध जायज है, यह भी मैं मानता हूँ। मगर अब ऐसा करने में न तो तुम्हारी भलाई है, न मेरी।

शैल ने पेशकार साहब की ओर मुँह नहीं किया। अन्धकार सड़क की ओर देखती-देखती ही बोली—पेड़ लगाने वाले ही सब समय उसका फल नहीं खाते। इसमें हमारी-आपकी भलाई नहीं, हो सकता है आगामी काल में हम-आप जैसे अन्य अनेक की भलाई हो। स्वराज्य के लिये जो मर गये, वे क्या गांठ बांध कर ले गये? उनकी राख पर जो इमारत बनी, बाकी लोग आज उसी में निश्चिंत रहते हैं।

पेशकार साहब चुप हो रहे। आज घर न भोजन बना, न भोजन की किसी को इच्छा थी। दुश्चिन्ता में पड़े-पड़े कब पेशकार साहब सो गये, पता नहीं।

❀ ❀ ❀

सुबह शैल के बिस्तर पर शैल के बदले एक पत्र जागा। महज दो-चार पंक्तियाँ थीं उसमें—मैं जा रही हूँ। आपके तिमंजिले से संसार बड़ा है। इसलिये खोजने का कष्ट बेकार है। मुझे आना नहीं है। बयाने के गहने और सब कुछ दिये जाती हूँ। सौदा होते-होते भी न हुआ समझिये। आश्रम से कोई विधवा खरीद लायें, तो प्रायश्चित हो जाय।

—शैल।

पेशकार साहब को लगा, उनका मुँह अखबार हो गया है और लोग उसी में सम्बाद पढ़ते हैं। रात के अन्धेरे में और कहीं चल देगें, यह सोच कर दिन के प्रकाश में उल्लू की तरह घर में बन्द हो गये।

रूपांतर

किरानी शब्द स्वयं इतना अधिक बोलता है कि उस बेचारे जीव के परिचय की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। यह एक शब्द ही उस जाति-विशेष के प्रत्येक और सबकी पूरी जीवनी, समूचा इतिहास कह देता है। यों सबकी तरह सिर में एक कपाल लिए तो किरानी भी आते हैं, पर उस कपाल में भाग नहीं होता। और फिर मेरी तो पूछते ही बेकार हैं। मैं हेड किरानी ठहरा, पासँग भर रुतबा अधिक पाकर सेर भर परेशानियों का सौदा कर बैठा हूँ।

कोल्हू से सरसों जिस तरह खली होकर ही निकलता है, दिन भर दफ्तर में पिसकर शाम को निकला। घर जब सोंठ-सी सूरत लिए पहुँचा, तो देवीजी की दया से न चाय नसीब हुई, न जलपान। खातिर में जो कुछ मिला, वह सुनने की नहीं, समझने की बात है। आप भाग्यवान हैं कि शक्कर का अकाल होते हुए भी बीवी की दो मीठी बातें पा लेते हैं। मगर नहीं, यह घर का पर्दा आपके सामने खोलूँ भी क्यों? माफ कीजिएगा, घर को हर बात ऐसी नहीं होती कि हर किसी पर जाहिर की जाय।

मगर खेद है, यह इतना बड़ा तूफान जो उठा, स एक तिनके के लिए। हाँ-हाँ, तिनका ही कहिए। जो एक डाँट पर स्वामी का चुल्लू भर खून सुखा दे, ऐसी मालकिन के आगे दो रुपल्ली के अभागे नौकर की क्या हस्ती हो सकती है ? फूँक दे, तो उड़ जाय। फिर दिल यह भी मानने को तैयार नहीं कि धन्नू ने सचमुच ही ऐसा कोई गुनाह किया होगा। बेजबान जानवर-सा तो है। मशीन की तरह काम ही करता है, जवाब नहीं जानता। लाख हाँ-हिदायत के बावजूद, बच्चे जैसे कर्तव्य भूल जाते है, वह कोई मलाल नहीं रख पाता। कड़वी-सी कुछ कह दो, तो रुआँसा-सा हो उठता है और दो क्षण के बाद ही सूखे ओठों पर वही स्वच्छ हँसी। मलिनता, साँस की तरह, आयी नहीं कि गई। धन्नू हम आसानी के लिए ही उसे कहते हैं, उसका नाम है रामधनी। कोई मौलिक परिचय तो उसका नहीं दिया जा सकता। कविवरेण्य रवीन्द्र जिसे 'पुरातनभृत्य' कह कर अमर कर गए हैं, मानो वही मेरा यह नया नौकर हो। वही, ठीक वैसा हो। कहने लगूँ, तो लगेगा, मैं हिन्दी में उस कविता का अनुवाद भर पेश कर रहा हूँ। नाम-गाम के सिवाय रवींद्र के उस पुरातन भृत्य से रामधनी का इतना ही अंतर था कि आदमी पुराना होते हुए भी यह नौकर नया था। इस लड़ाई में मिलिटरी की बहाली क्या आई, टके का आदमी साहब हो गया। अब बड़े-बड़ों को नौकरों के लाले पड़ गये हैं, जैसे गरीबों को दानों के और यह धन्नू है कि छुड़ाने पर भी कसम की तरह नहीं छूटता।

दफ्तर से लौटने पर दिमाग तो फागुन का खलिहान हो जाता है। फिर श्रीमतीजी घर की कोठी-सी भरी-पूरी ठहरीं। कम्युनिस्ट नेता की तरह चर्खा चालू कर दिया—इस तुम्हारे धन्नू की जगह जो कहीं घर एक सौत बैठा देते तो अच्छा था। मैं पूछती हूँ, आखिर यह है किस मर्ज की दवा? ऐसा एक हाथी जो पालता है, उसके कलेजे में तुम्हारी जैसी हड्डी हो हड्डी नहीं होती।

'निराला' जी की पंक्तियाँ ही टेढ़ी होती हैं, अर्थ होता है प्रांजल। मगर इन साफ-सुथरी पंक्तियों में ही मसूरी का कुहरा था। मैं इस भूमिका से विषय की थाह पाने की बेकार कोशिश न कर एक ही बात सोचने लगा, इस शरच्चंद्र ने किस जाँते का पिसा खाया था कि उसने नारी में कहीं खोट देखी ही नहीं। मनु, चाणक्य, तुलसी की बात ही चरम सत्य हो, यही मैं क्यों कहूँ। परंतु शरत् ने शायद एक चावल टीप कर हाँड़ी भर का सिद्धान्त कर लिया। मालूम होता है, उसके बीवी नहीं थी। जो रही होगी, प्रेमिका। प्रेमिका को परख कर बीवी का स्वाद नहीं समझा जाता। वास्तव में स्त्रियाँ देवियाँ होती हैं, पूजनीया। इन्हें पत्नी बनाना एक प्रयास है, जैसे सब्जी में नमक जहर होने पर नींबू का रस डाला जाय।

दार्शनिक जैसे मेरे मौन ने श्रीमतीजी के रोष को बल दिया। बोलीं—नौकर जो रखता है, वह मालिक होता है। तुमने तो मेरे लिए मालिक ही रख छोड़ा है। ठूँस-ठूँस कर

खिलाओ, बीमार हो तो सेवा-टहल करो और कुछ कहो, तो महज एक मुँह, मय मसूड़े के, दाँत दिखा दे। इतने पैसे के तो कंबल खरीद कर गरीबों में बाँट देते। अगला जनम शायद सुधरता।

मेघ का पता न था, बिजली-पर-बिजली कड़कती जा रही थी। यह देखकर धन्नू पर क्रोध हो आया। इसलिए नहीं कि मैं उसे गुनहगार समझ बैठा। मगर लंका में विभीषण क्यों हो? गरीब-अमीर तो आदमी भाग से होता है, परंतु आदमी होकर आत्मसम्मान न हो, ताज्जुब है। मैंने खीझकर कहा—तुम इस धन्नू के बच्चे को जवाब क्यों नहीं दे देती? शिकायतों का इतना बड़ा पोथा सुना सकती हो, महज दो शब्द कहकर इस बला को गले से उतार नहीं फेंक सकती?

'तुम जो वैसा होने दो'—वह कहने लगी—'तुम्हारे लिए तो जैसे त्रिलोक में धन्नू ही एक नौकर है। और नहीं ही रहा नौकर! पहले ही कौन नौकर रख छोड़ा था तुमने? हाथ की मेंहदी भी न छूटी थी कि तुम्हारे घर आकर झाड़ू पकड़ा, बर्तन माँजे। आखिरी वक्त में मुसलमाँ क्या बनना!

मैं बोला—ठीक है, तब घर-आँगन के लिए झाड़ू पकड़ती थी, अब उसके लिए मैं ही रह गया हूँ।

बातों ही बातों में अनायास यह बात निकल गई। मगर बाद में मैंने जाना, यह जितनी आसानी से कही गई, हकीकत में उतनी आसान नहीं थी। तीर की तरह यह लगी या नहीं, भगवान जानें, मगर श्रीमतीजी ने अभिनय तो सफल किया।

दोनों हाथों के साथ दृष्टि को उठाकर वह बोली—हे श्री सूर्य भगवान, आप जानते हैं, अगर मैं इनपर झाड़ू उठाती होऊँ, तो मुझे अपने हाथ से काम नहीं, ये गल-गलकर गिर जायँ। वह आँसू बहाने लगी।

औरतों की आँखों से आँसू जितना जल्दी ढलता है, दिल उतनी ही देर से गलता है। इन आँसुओं की कोई प्रतिक्रिया मुझपर न हुई। भीष्मपितामह ने मरने की इच्छा को अधीन कर लिया था, औरतों ने जी चाहे जब आँसू बहाने का वरदान पा रखा है। बादलों को घिरते देर होती है, औरतों की आँखों को बरसते विलम्ब नहीं होता। सब कुछ जानते हुए भी मैं इसका अंत चाहता था। आज को बात होती, तो बात थी; रोज-रोज का यही किस्सा था। जापानी जासूस की तरह रात-दिन धन्नू का छेद ढूँढ़ना ही उसका काम था। अमंगल भी अपशकुन दिखाता है; पर श्रीमतीजी को महाभारत मचाने में कारण की जरूरत न थी। कितने तरह के इलजाम तो अब तक लगाये जा चुके थे। कम-से-कम धन्नू की खातिर ही धन्नू को निकाल बाहर करना होगा। किसी की सरलता इतनी सताई क्यों जाय ?

मैंने रोषभरी वाणी से पुकारा—धन्नू, कहाँ जा छिपा है बेहया, इधर आ। शर्म को घोलकर पी गया है। एक बार, दो बार, अनेक बार तो हो गया, तस्वीर की तरह तेरा ढंग नहीं बदलता। दिन-दिन सिर ही चढ़ता जाता है, नीच।

धन्नू पास ही कहीं से सब कुछ सुन तो रहा ही होगा। किन्तु चिलम चढ़ाकर नारियल हाथ में लिए वह इस तरह मेरे सामने आया, मानों कुछ हुआ ही नहीं। निर्विकार भाव से उसने हुक्का मेरी ओर बढ़ाया। उसकी इस भोली भक्ति से मेरी बेहयाई जैसे पीड़ित हो उठी। फिर भी दिल को मजबूत कर मैंने कहा—मुझे नहीं पीना। तू अभी अपना हिसाब-किताब कर ले और अपनी राह लग। तेरे कारण मैं बर्बाद नहीं हो सकता। हजार बार तुझे माफ किया, मगर तेरी हरकतें नहीं जा सकीं। अब तू ही जा, अभी, इसी वक्त।

आदेश में रूखापन था। उसने इतनी बातों का एक भी उत्तर नहीं दिया। गया भी नहीं, जाने का कोई विचार भी उसके चेहरे से नहीं पढ़ा जा सका। इस आँधी-पानी में भी वह ध्रुवतारा की तरह अपनी जगह पर था।

मैंने फिर कड़ककर कहा—खड़ा क्या है, सीधे मन नहीं जाता, तो मैं पुलिस की मदद लूँगा। खूब समझ ले, तुझे जाना पड़ेगा, जिस तरह से भी हो। यों मैं बिगड़ता नहीं हूँ, लेकिन कहीं बिगड़ा, तो काल ही जानो। चुपचाप चल देने में ही तेरी भलाई है।

अब भी नहीं जाता, बेहूदा। अब तेरी सूरत नहीं देखना चाहता। तेरी सूरत से मुझे नफ़रत है, जी से। तूने इस संसार में इस बुरी तरह आग लगाई है कि सुख-शांति चली गई। जा, दूर हट मेरी आँखों से।

छलछलाई आँखें लिए धन्नू दूसरे कमरे में जाने लगा। मैंने कहा—अपने सामान समेट लो और हिसाब ले लो। मगर जल्दी करो।

वह दूसरे कमरे में चला गया। मैं डर रहा था, कहीं ललिता न आ जाय। पड़ोस में कहीं खेलने गई थी। धन्नू के बिना वह एक पल नहीं रह सकती। धन्नू न होगा, तो वह रो-रोकर जान दे देगी। धन्नू की गोद-पीठ पर ही वह पली। माँ-बाप को वह चीन्हती है, धन्नू को जानती है। और धन्नू का भी संसार उसके बिना उजड़ जायगा। उसीकी ममता तो ..

मगर यह सब सोचने समझने की न स्थिति थी, न समय। ललिता आ जायगी। फिर क्या होगा, यह तो ठीक समझ न सका; पर एक अलक्षित आशंका से सिहर-सा उठा। उसे जल्दी जाने की ताकीद कर दूँ, यह सोचकर उस कमरे में जाने को उठा ही था कि धन्नू आकर खड़ा हो गया।

मैंने पूछा—कुछ कहना है?

स्वर में सारे संसार की करुणा बटोर कर वह बोला—अँधेरा हो आया, अगर आज्ञा होती, तो रात भर यहीं रह लेता। सुबह चला जाऊँगा। शाम को तो लोग कुत्तों को भी नहीं निकालते।

'मगर तू कुत्ता नहीं है'—मैंने कहा—'देर न कर, चला जा।

धन्नू ने और कुछ नहीं कहा। आँखों में जो सजलता थी वह सूख आई थी। फिर वह दूसरे कमरे में चला गया। दूर से मैं देखने लगा। उसने एक छोटी-सी पोटली बाँधी।

कुछ फटे-चिटे कपड़े थे, जो उससे अधिक मेरे जैसे दाता की विवशता का बयान दे रहे थे।

दरवाजे के पास उसने पोटली रख दी। अंदर आया। मैंने समझा, माया जिस तरह जाते-जाते नहीं जा पाती, धन्नू नहीं जा पा रहा है। मगर इस बार वह मेरे पास नहीं आया। सीधे श्रीमतीजी के सामने गया। पाँव छूने की तो शायद उसे हिम्मत नहीं हुई, झुककर उसने जमीन को प्रणाम किया। बोला—'माँ जी, मेरी गलतियों को माफ करना।' और आगे वह कुछ नहीं बोल सका, रो पड़ा।

श्रीमतीजी प्रणाम के बदले आशीर्वाद तो नहीं दे सकी, पर जिन्दगी में आज ही एक बुद्धिमानी उन्होंने यह दिखाई कि चुप बनी रहीं। धन्नू ने उसके बाद आकर मेरे पाँव छुए और जाने लगा। मैं आँसू को रोक तो न सका, पर पौरुष की लाज न चली जाय, इसके लिए मुँह छिपाया। अपनी पोटली लेकर जब वह दरवाजे से निकलने लगा, तो मैंने पुकार कर कहा—धन्नू, अपना हिसाब तो ले जाओ। उसने जैसे सुना ही नहीं, जाने लगा। मैं उसके पास पहुँचा। रोक-कर बोला—ये तुम्हारे रुपये।

उसने सिर्फ इतना ही कहा, रुपये तो सभी देते हैं बाबूजी! जो मेरा था, वह भी तो छीन लिया गया!

उसका क्या छीन लिया गया, इसका मर्म मैंने समझा जरूर—न समझने का बहाना किया। थोड़ी ही देर में धन्नू का घोर काला शरीर अन्धेरे में खो गया। अन्धकार की तरह मेरी नजरों में अगम होकर वह चला गया।

जेब से एक खोटी इकन्नी गिर जाती है, तो दुःख होता है; यह तो घर से एक आदमी चला गया। घर के एक-एक कोने में धन्नू की अनेक स्मृतियाँ खड़ी थीं। उस रात लगा, प्रत्येक कोने को जैसे बेताब जावन मिल गई हो, सन्नाटे में सब कुछ जैसे धन्नू के लिए रो रहा हो। शाम को तो भुला-फुसला कर ललिता को सुलाया। आधी रात को वह जागी, तो धन्नू की रट ले बैठी। मगर धन्नू था कहाँ कि उसे मिल जाय। रानी रे, सोना रे, यह ले, वह ले—सब बेकार! आकाश का चाँद ही तोड़कर क्यों न दो, मगर उसे तो धन्नू ही चाहिए—आबनूस का वह कुन्दा, हाड़-मांस का पुतला। मैं तो खुद मर्माहत था, फिर इस नासमझ बच्ची की चिल्ल-पों! अँतड़ी तक जल उठी क्रोध से। "चुप भी रह, नहीं तो गला टीप दूँगा। सुनती हैं राजरानी जी, अपनी बिटिया को सम्हालें; नहीं तो, धन्नू की तरह मैं भी चल दूँगा।"

जिस घर में मरणासन्न रोगी होता है, वहाँ भी रात इस बेकली से नहीं कटती होगी। सबेरा हुआ। चिलम लिए आज खाट के पास धन्नू खड़ा नहीं था। श्रीमतीजी आत्म-सम्मान के आवेश में मुँह अन्धारे ही जाग कर बर्तन-बासन कर रही थीं। रो-रोकर ललिता सो गई थी। अभी भी उसके चेहरे पर सूखे आँसू के दाग थे। मैं जिन हाथों कलम चलाता था, उनसे चिलम चढ़ाने लगा; धन्नू जो नहीं था। हाथ में नारियल लिए बाहर बैठक की ओर चला। अन्दर से रोना-सा आ रहा था। बैठक में आज अब तक झाड़ू नहीं लगा था।

सामने दो-चार फूलों के पौधे थे, आज चौकस पहरेदार के विना शरारती लड़के उन्हें लूट चुके थे। विधवा की माँग-सा वहाँ मौन हाहाकार हो रह गया था। चिलम की आग सुलगी न थी और मैं हुक्के में दम लगाता ही जा रहा था।

आँखों का विश्वास नहीं कर सका, मगर वह धन्नू ही तो आ रहा था। हाँ, धन्नू ही था। फिर भी खुशी न हुई। विस्मय ही अधिक हुआ। कौन-सा सूत्र है कि इस देवता-से आदमी को जानवर बनाए खींच रहा है। जिसे इस घर ने फटे जूते की तरह उतार फेंका, वहीं वह अपने आत्मसम्मान के बदले आ रहा है। इसी आगा-पीछा में मैं कुछ कह नहीं सका! धन्नू पास आया। बड़े धीमे स्वर में बोला—बाबूजी, मैं अभी चला जाऊँगा। ललिता को एक नजर देखे बिना ही चला गया था।

मैं चुपचाप अन्दर गया। ललिता सो रही थी। उसे गोद में उठा कर ले आया। वह जागते ही रो पड़ी। धन्नू ने उसे अपनी गोद में लिया, चूमा, पुचकारा। वह चुप हो गई। पुराने कपड़े की एक पोटली उसने ललिता के हाथ में दी। रुपये ही रहे होंगे उसमें और कुछ कम भी न होंगे। कोई दस-एक मिनट बाद धन्नू ने ललिता को गोद से उतारा। तू जरा ठहर, मैं तेरे लिये मिठाई ले आऊँ।

और धन्नू की आँखों में पानी चमक उठा, ओठ काँप गए। मैं आगे आया। बोला—तुम मत जाओ, मिठाई मैं ला देता हूँ।

धन्नू ने दो बूँद आँसू बहा कर कहा—बाबूजी, माफ करना, अब जा रहा हूँ............

मगर तुम अब जा नहीं सकते, हर्गिज नहीं।—मेरे शब्दों में आदेश था, आदेश में प्राणों का बल।

वह चली गयी

किरानीगिरी तो फिर भी बेहतर है, मगर ईश्वर सातवें दुश्मन को भी प्रूफ-रीडर न बनाये ! हेमू को तो आपने देखा ही होगा—दोहरे बदन का कैसा खूबसूरत जवान था ? देखते-ही देखते मोमबत्ती-सा ढल गया बेचारा ! चेहरे भर में पिरामिड-सी नाक और आँखों की दो खाइयाँ ही तो बच रही है। पचीस की तो जवानी है और लगता है गदर के युग का बूढ़ा हो। न चेहरे पर रौनक और न दिल में हौसले। दस बजे के गये-गये दिन ढलते लौटता है और इतनी देर तक लगातार कागज पर चिपके मक्खियों जैसे बदसूरत हरूफों पर बगले की निगाह डाले रहना पड़ता है। चमारी साह के च्यवनप्राश का लेबिल, सिनेमा का विज्ञापन और भी जाने शैतान की आँत-सा क्या-क्या। साँझ को लौटता है, तो ओठों पर छाले पड़े रहते हैं तथा आँखों से अन्धेरा दीखता है। पूछो तो उस रिकार्ड-सा बोलकर मौन हो जाता है, जिसके दम न हो—भैया, गिनती नहीं कि इसी छोटी जिन्दगी में कितना प्रूफ पढ़ गया, मगर विधाता ने मेरी तकदीर का प्रूफ नहीं पढ़ा, वह गैली प्रूफ ही रह गई।

बात में हँसने के सामान तो होते, मगर पुरदर्द। हेमू के एकांगी जीवन की बद्ध धारा में उस दिन हलकोरा आया। चक्का डूब चुका था कि हेमू प्रेस से लौटा। धन जाने पर भी जैसे बहुतों का धरम रह जाता है, उसी प्रकार सूर्यास्त होने पर भी हल्की आभा थी—वातावरण लजीला-सा हो रहा था। लौटने तक उसके मन, मस्तिष्क और नेत्र काफी थक चुके होते। सो उसकी सूनी आँखें अनंत शून्य में टँग जातीं। अनंतता में हृदय की सीमित शून्यता समा जाती। प्रतिदिन इस समय वह घंटों खोया-सा रहता। कभी-कभी तो बड़ी देर तक चिराग जलाने की सुध नहीं रहती। आज भी उसने शांति की खोज में शून्य के सागर में सूनी आँखें डाल दीं। आश्चर्य, सड़क के पार वाली छत के कंधे पर आज आसमान का टुकड़ा ही टँगा नहीं था, उसपर एक चाँद चमक रहा था—एक नवयौवना का गोरा हसीन मुखड़ा। पीठ तक लोटती हुई घनी काली वेणी, सादी माँग में सुहाग की प्रतीक्षा। मटमैले प्रकाश के कारण मुखड़े की सही तस्वीर तो आँखों पर उतर नहीं सकी, किंतु हेमू की आँखों में प्रकाश की एक लहर-सी समा गई। जब तक अँधेरा गहरा नहीं उतर आया, छुप-छुपाकर हेमू उस नई तरिका को देखता रहा। बड़ी देर गए वह चिराग जलाकर अपने बिस्तर पर आ लेटा।

इतने में शंभू चचा आए। पड़ोसी थे। हेमू पर उनका स्नेह था। सुख-दुख की बात पूछा करते थे। इस प्रवास में समय असमय के लिए हेमू को स्नेह का एक आधार-सा

था। चचा ने पूछा—क्यों भैया, आज चूल्हा नहीं जला—रसोई ?

हेमू ने सहसा कोई उत्तर न पाकर कह दिया—आज जी कुछ अच्छा नहीं है। आज नहीं खाऊँगा।

चचा बिगड़ गए—भई, यह रात को नहीं खाने वाली आदत तो अच्छी नहीं। आईने में कभी सूरत भी देखी है अपनी ? ये तुम्हारे खेलने-खाने के तो दिन हैं और दादा की उमर के लग रहे हो। जी से जहान है। पेट न होता, तो माँ-बाप के स्नेह का दामन छोड़कर यहाँ क्यों हाय-हाय करते ? बनाने का जी नहीं था, तो मेरे यहाँ कहला भेजते। मालती बना देती।

इस अपनत्व में बहाने की रूह जैसे काँप उठी। हेमू ने सिटपिटाकर कहा–जी, ऐसा तो नहीं, असल में कुछ खाने को जी ही नहीं।

—नहीं जी, बेतरह तकल्लुफ करते हो। खैर, मैं मालती से कह देता हूँ, रोटियाँ तैयार रहेंगी। समय पर खा आना।

और चचा बैठे भी नहीं। उलटे पावों लौट गये। हेमू कुछ कहना तो चाहता था, मौका न मिला।

रात को पता नहीं, हेमू क्या-क्या आकाश-पाताल सोचता रहा। सवेरे का समय भी अनजान में ही जैसे बीत गया। जब वह प्रेस पहुँचा, तो मालिक ने बड़े ही रहस्यपूर्ण ढंग से घड़ी की ओर इशारा किया। वह लेट था। अपराध जुबान

को बाँध देता है। हेमू अपराधी की नाईं सिर झुकाए अपनी जगह पर जा बैठा। अपनी मेज की चीजों को मनमाना सजा भी नहीं पाया कि प्रूफों की बाढ़ आ गई। यह गैली प्रूफ, यह दूसरा प्रूफ और इसके लिए मशीन रुकी है। इस प्रूफ का एक बार संशोधन करके इसे सेठ धाकड़मल ठंढी राम के पास भेजना है। और इन खतों का जवाब देना है और बिल बनाना है और यह है, वह है। द्रौपदी के चीर-सी लंबी कार्यों की एक तालिका सामने आ गयी। भीतर बेतुलायी गाड़ी-सी मशीन रह-रहकर करुण कराह कर रही थी। बाहर बेतरह बोझों से दबा यह मानव-यंत्र था, जिसके ओठों पर उफ् भी न था।

हेमू को आज से ज्यादा गुलामी कभी नहीं खली थी। मामूली कुछ चाँदी के निर्जीव टुकड़ों के बदले जिंदा जीवन कितना निकम्मा हो सकता है, हेमू इसे आज ही अच्छी तरह समझ सका। उसका मन कहीं और था—उसका प्रेत ही जैसे उसकी एवजी कर रहा हो। समय जैसे काटे नहीं काटता। बार-बार घड़ी पर नजर जाती। लगता, सुई मनों भारी हो गई हो—चल नहीं सकती। उसके चिरपालित धीरज को एक कैसी तो चिढ़ और झुँझलाहट झकझोर रही थी। वह मौन रहा।

आखिर साँझ हुई। हेमू ने बाजार समेटा और मालिक की अपेक्षा किए बिना ही वापस आ गया। कमरे को खोला—बेंत की एक पुरानी कुर्सी थी, उसे बाहर निकाला और रोज़-

रोज के परिचित आसमान की ओर देखने लगा। सामने ही सड़क थी। आने-जाने वालों का ताँता। मोटर, ट्रक, साइ-किल, रिक्शा। किंतु हेमू को इन आने-जाने वालों की खाक भी खबर न थी। और आज अपने पुराने आसमान से भी उसका जी नहीं भर रहा था। उस नील चाँदनी में किसी बूटे की जैसे कमी थी। अंधकार जब उतरने लगा, तो छत पर वह सुखमंडल फिर दिखाई दिया। हेमू एकटक उसे निहारता रहा। खुशनुमा साड़ी में कीमती और चंचल तरुणाई लिपटी थी। दो-चार मिनट के बाद ही प्रकाश की अंतिम रेखा भी धरती से पुंछ गई। हेमू फिर कुछ न देख सका।

खाना-पीना जैसे प्रतिदिन का अनिवार्य काम है, हेमू की दिनचर्या में यह मौन निरीक्षण भी वैसा ही अनिवार्य हो उठा। यह न सिनेमा का चित्र था, न कोई उपन्यास कि लेखक-डाइरेक्टर जैसा चाहते, घटनाओं की सृष्टि कर लेते। हफ्तों बीत गए, बात ऐसी ही एकांगी रही। हेमू रोज अपने बरामदे पर साँझ को बैठा करता—वह लड़की, भगवान जाने क्या नाम था उसका—छत पर आती, तितली की तरह मँड़राती, चिड़ियों-सी चंहकती और चली जाती। उसने यह सोचा भी न होगा कि किसी के जीवन का वह अनजान में ही केन्द्र हो गई है। एक क्षण के उसके इस कौतुक पर किसीका जीवन जुड़ाता है। एक दिन की उसकी अनुपस्थिति किसी के कोमल हृदय को लोहे के हाथों से मसल जाती है।

ऋतु परिवर्तन के साथ इधर इस कहानी का रूप भी कुछ बदल गया है। ठंढक के दिन आए। सुबह की धूप प्यारी हो उठी। एक दिन सबेरे एकाएक हेमू ने देखा—वह छत पर हैं। अन्धे को जैसे आँखें मिल गईं। पहले वह शाम के समय से हाथ धो बैठा था, अब सबेरा भी अपना न रहा। रसोई करने की झंझट को उसने आखिरी सलाम किया। एक होटल में दोनों जून भोजन का तै कर आया। मगर दूसरी बड़ी बला पाले पड़ी। पूस के दिन फूस की आग जैसे ही जल्दी ढल जाते। हेमू को प्रेस जाने में लगातार देर हो जाती और लौटने की भी उसे कुछ आकुलता-सी रहती। मालिक के लिए दोनों ही बातें एक-सी अखरने वाली थीं। सो हेमू को कभी-कभी कुछ सुन जाना पड़ता। निकले दाँतों को ढँकने का प्रयास जैसे- ओठ छोड़ देते हैं, हेमू उसी तरह मालिक की बात का प्रतिवाद नहीं करता। जूते के घाव की तरह उसके आत्म-सम्मान को अब जैसे चोट ही नहीं लगती।

एक दिन उसने, यानी उस लड़की ने भी हेमू को देखा। देखा कि हेमू उसे ही देख रहा है। पता नहीं, उसने मन में क्या समझा, पर वह हँसी। हँसकर ध्यान को दूसरी तरफ लगाया। मगर दाँत में लगी हुई किसी चीज को जीभ जैसे नहीं छोड़ती, वह भी अपने देखने-वाले को देखे बिना नहीं रह सकी। उसने जब देखा, तभी यह पाया कि हेमू की आँखें उधर ही को हैं, जैसे कोई मूर्ति हो। कारीगर ने

जैसी आँखें बनाईं, वैसी ही रह गईं! मैं मनोविज्ञान का पंडित नहीं, वर्ना आसानी से जान सकता, इस हवा के झोंके से उसके हृदय के सागर में क्या लहरें आईं।

प्रेम की परिभाषा के झगड़े में पड़ूं, तो नतीजा शायद कुछ न निकले। सीधे तौर से कहिए, तो हाव-भाव से यह मालूम होता, जैसे दोनों तरफ हो आग बराबर लगी हुई! यह उसे देखता, वह इसे देखती। और यह देखा-देखी चलती रही—चलती रही—काफी दिनों तक। हेमू के आने के समय वह लड़की अपनी छत पर आ जाती—जैसे उसकी आगवानी को। पास से देखने से शायद यह भी पता चलता, जब हेमू नहीं होता, तो उसका मुखड़ा मुरझा जाता। जब हेमू छत पर उसे न देखता, तो कभी सीटी बजाता, कभी सिनेमा के गीत की कोई कड़ी गाता। फिर वह काम में भी लगी होती, तो ऊपर अवश्य आ जाती। और कुछ नहीं तो कमर के दर्द, काम या पढ़ने के बहाने।

यह देखा-देखी इतना अप्रगतिशील हो गया, जितना कि कुछ दिन पहले का हिन्दी-साहित्य था। आस-पास के कुछ लोगों की दुनियावी आँखें ताड़ भी गईं। शंभू चचा ने भी जाना। मगर लड़के से कोई कहे भी तो क्या। सब चुप थे। नायक-नायिका भी इस नियमित घेरे में ही घड़ी के पेंडुलम की तरह डोलते रहे। मौके कई आए। कभी बाजार में मिले, कभी सिनेमा में, कभी नुमाइश में। मगर झुकी

आँखों से एक-दूसरे को देखते रहने के सिवा दबी जबान से भी कुछ कह न सके।

काफी दिनों का अर्सा बीत चुका था। दोनों एक दूसरे के संबंध की बहुत बातें, एक दूसरे के स्वभाव की बहुत-सी बातें जान गए थे। नाम न हेमू का उसे ज्ञात था, न उसका हेमू को। हेमू तो इस दुःख में घुन लगी लकड़ी की तरह भीतर ही भीतर घुलता जा रहा था—पर वह दिन-दिन खुशियों में मरती जा रही थी। हेमू जब उसे देखता, वह हँसती होती। उसकी आँखों में एक प्रकाश सा होता। हेमू उसे देख खिलता भी तो लगता, कोशिश करनी पड़ रही हो। हेमू की रातें दिन की प्रतीक्षा में ही बीता करतीं। जीवन की गाड़ी को अकारण ही आगे बढ़ते रहने को एक गति मिल गई थी।

दस बज चुके थे। प्रेस को देर हो रही थी। हेमू नहा-धो चुका था। कपड़े पहन लिए थे। मगर खड़ा था। रोज प्रेस जाते समय वह छत पर आ जाती थी। आज आखिर देर क्यों? आ ही रही होगी। अब-तब करते-करते पौने ग्यारह बज गए। हेमू अधीर हो उठा कि इतने में वह छत पर आई। बड़े प्रेम से दोनों हाथ बाँधकर उसने दूर से हेमू को नमस्कार किया। हेमू को सहसा अपनी आँखों पर विश्वास न हो सका। और इसलिए प्रतिनमस्कार किए बिना ही वह चला गया। घर से प्रेस तक की दूरी अनायास कट गई। आज तो उसके प्राणों को पंख से लगे थे, प्राणों में खुशियों के लिए जगह नहीं थीं। ध्रुव को जैसे भगवान मिल गए।

प्रेस पहुँचा। चेहरे पर उत्फुल्लता खेल रही थी। मालिक जैसे प्रतीक्षा कर रहे थे। उसने कदम रक्खा नहीं कि वे बोले—आप काम नहीं करना चाहते, तो जवाब दीजिये। घड़ी देखिए। क्या समय हुआ? इधर मैं बराबर गौर कर रहा हूँ कि आप रोज कुछ-न-कुछ लेट आते हैं और जाने में भी रोज कुछ जल्दी ही करते हैं। काम में भी जी नहीं लगाते, प्रूफ में बेहद गलतियाँ छूटती हैं।

हेमू ने कोई उत्तर नहीं दिया।

मालिक ने फिर कहा—देखिए, आज मेरी आखिरी चेतावनी है; कल से आप जानें, आपका काम जाने।

हेमू बुत की तरह अपनी जगह पर बैठ गया। उसके चेहरे पर की परेशानी यह बता रही थी कि उसे अपने मन से लड़ना पड़ रहा है।

आज वह प्रेस में समय से ज्यादा ही ठहर गया। घर लौटते हुए भी क्यों उसमें उत्साह और उल्लास नहीं था। नजर झुकाते हुए कुछ सोचता हुआ वह आया। बाहर सड़क पर बग्गियाँ खडी थीं। सामान लादे जा रहे थे। हेमू बरामदे में आ बैठा। बग्गी के अंदर उसे वह दिखाई दी। सड़क पर एक सज्जन अपने एक मित्र से बता रहे थे—हाँ भाई, राँची जा रहा हूँ। बदली हुई है। जगह तो, सुनता हूँ, अच्छी है। अब भगवान जानें।

उन लोगों की परस्पर नमस्ते-बंदगी हुई। हेमू के कान खुले थे, आँखें खुली थीं; परंतु वह कुछ भी देख-सुन नहीं रहा

था। इतने में बग्गी चल पड़ी। हेमू ने देखा, वह उसे देख रही है। छलकती आँखें बंद करके झुकाते हुए उसने संकेत से नमस्ते कहा। सबके सामने हाथ नहीं जोड़ सकी। गाड़ी चली गयी। हेमू खोया-सा बैठा रह गया। नमस्ते भी न कर सका।

और वह चली गई—शायद सदा के लिए! यह कोई श्रीनाथ सिंह का उपन्यास तो नहीं कि नायक का हवाई जहाज खराब होकर उसी गाँव में गिर पड़े, जहाँ नायिका रहती हो!

बारिश हो रही थी

छाया ने पीछे की खिड़की खोल दी। दूर किसी छोटे-से गाँव के सिरे पर से सूरज उसके हृदय में डूब चुका था। क्षितिज की लाली होली के कपड़े के रंग की तरह धीरे-धीरे धीमी होती जा रही थी। गाँव को धुएँ का बादल पीसता जा रहा था और दिन के प्रकाश को अंधकार लीलता आ रहा था। सिर पर उसकी जलती वासना जैसा एक अकेला तारा चमक उठा था!

छाया उस आलोक-अन्धकार की आँखमिचौनी में छाया-सी खड़ी रही। वह जलता तारा कितना अकेला है, कितना निःसंग! और, उसे लगा, उसका अपना जीवन इस विराट् शून्य में उस तारे-सा ही एकांत एकाकी है। वह तस्वीर-सी खिड़की के सामने खड़ी रह गयी।

बगल की ठाकुरबाड़ी में आरती के घन्टे बजे। छाया यंत्र-चालित की नाईं आयी और दिये को जलाया। यह उसका कर्तव्य-बोध भर था, इस काम में आनन्द की कहीं किरण हीं न थी! और फिर चिराग पर टक-टकी लगाये खोयी-सी बैठ गयी। रात का कोई काम बाकी न था। दिन की ठंढी रोटियाँ इस वक्त भूख बुझा लेंगी। और क्या खाय,

जीवन में वेग और उल्लास ही कहाँ था। किताबों को ही कितना पढ़े और सोये भी कितना। इतना बड़ा दिन, इतनी बड़ी रात। रात और दिन दिन और रात। इस शून्य का कहीं अन्त नहीं। अनंत आकाश में जैसे साँझ का एक अकेला तारा! इस निःसंग-जीवन तथा इस मनहूसियत का छोर नहीं—द्रौपदी के चीर की तरह बढ़े ही जा रहे हैं। भूत की तरह इतने बड़े घर में दीवारों से कब तक बातें करे, किताबों से कबतक उलझे। किताबें बातें कर सकती हैं, प्रेम नहीं। उसके अन्दर में एक अतृप्त और बेचैन भूख दीये-सी जल उठी।

उसने अपने तकिये के नीचे से एक पत्र निकाला। कुछेक पंक्तियाँ ही थीं उसमें। 'मेरे जीवन की छाया, तुम अकेली दुखी होगी। मगर, यकीन मानो, तन यहाँ है, मन वहीं रख आया हूँ। दुनियाँ में पैसे के लिये ही जाना नहीं है। पर, जीने के लिये पैसे चाहिये। इस तरह कुछ न होते हुए भी पैसा सब कुछ हो गया है। जल्दी ही आऊँगा। अधीर न होना। प्यार।

और, इन पंक्तियों को पढ़कर छाया और आत्मलीन हो गयी। जीवन की छाया, सचमुच ही वह छाया है। छाया का दूसरा नाम माया भी है। तो वह सचमुच सत्य नहीं। जीवन में पैसा ही सब कुछ है। प्रेम कुछ नहीं। याद पर आदमी जी सकता है, लेकिन क्या जीना जी सकता है? मन कोई रख भी जाय, तो क्या होना। मन को तन की

प्यास भी होती है। उसके अधर प्यास से काँप उठे, सिहरने में जवानी ने अँगड़ाई ली और सूनी आँखों में हृदय की भूख तड़प उठी।

उसके एक युग हुआ, जब छाया ब्याही गयी थी और तन की खिड़की से यौवन ने झाँका था। कंठ में उमंगों को कोयल गा उठी थी और अब तो विहाग की लय भी मौन है। वसंत डोला और बोला नहीं कि पत्ते पीले हो उठे! ब्याह के बाद जब नीरज ससुराल गया, तो छाया ने ही उसे साथ रखने की प्रार्थना की। वह ले भी आयी गई, किंतु उसी दिन से इसे अथाह सागर में छोड़ कर्णधार ने कार्यवश और कहीं प्रस्थान किया। और, आठ महीने बीते!

छाया के सामने दीपक की लौ धीमी-धीमी काँप रही थी और एक पतिंगा उससे उलझ रहा था। छाया के भीतर एक सिहरन हुई। उसने द्वार से बरामदे की ओर देखा, कुछ न दीखा। अंधकार, शून्य, नीरवता।

'भाभी, ओ भाभी, क्या अभी ही सो गयी?'

पहली ही आवाज में छाया सजग हो गयी। आवाज जानी-पहचानी थी। मनोहर पुकार रहा था। मनोहर नीरज का गहरा दोस्त था, एक जान दो कालिब। शहर के धनीमानी व्यक्ति का लड़का। दोस्त की अनुपस्थिति में भाभी की रोज खबर पूछ जाया करता था। छाया को वह कभी भला न लगता। कोई खास वजह न थी, यों ही। वह अपनापे के नाते आता रोज था। वाजिब में छाया को उसके प्रति कृतज्ञ

होना चाहिये था। पर, जानें क्यों वह उससे जलती थी। चाहती थी कि वह न आवे।

छाया ने आवेगहीन होकर दरवाजे की कुंडी खोल दी। हँसते हुए मनोहर ने नमस्कार किया। अन्यमनस्क की नाईं छाया ने प्रति नमस्कार किया। मनोहर आप ही आकर बिछावन पर बैठ गया। बोला—यों ही पूछने को चला आया। मेरी खिदमत की जरूरत हो तो.... । नीरज को तो काफी दिन हो गये। अब आना ही चाहिये।

छाया ने कुछ नहीं कहा। जानें क्या सोचती रही। मनोहर ने आहत की नाईं कहा—तो आप फिक्र क्यों करती हैं। मर्दों की जाति ही चिड़िये की होती है। पर निकला कि घर-परिवार, माँ-बाप, अपने विराने छूटे। सबका दाना जुटाना जो है।'

छाया ने संक्षेप में कहा—जी हाँ।

मनोहर ने कहा—मगर, आप दुखी मालूम होती हैं। संकोच न करें, कोई बात हो, तो मुझे बतायें। आखिर मैं हूँ किस दिन के लिए ?

'जी, कोई खास बात तो नहीं। यों ही कुछ गिरा-गिरा-सा मन है। सोने को जी चाहता है।' छाया बोली।

मनोहर उसी दम खड़ा हुआ। 'तो फिर सो रहें। मुझे कोई काम नहीं। आपके समाचार के लिए ही चला आया था। बस।'

और मनोहर चला गया।

छाया किवाड़ बन्द कर आयी। किंतु मनोहर के चले जाने से और दिन की तरह वह खुश न थी। एक अज्ञात वेदना से उसका हृदय बोझिल था। कितनी अकृतज्ञ है वह, मनोहर बाबू ने उसके इस व्यवहार से क्या समझा होगा। अपनी ग्लानि में गड़ती हुई भारी मन लिए बिस्तर पर पड़ रही। नीरव दीया उसका साथ दे रहा था।

दूसरे दिन प्रति मुहूर्त वह मनोहर की प्रतीक्षा करती रही। हर आहट उसकी चेतना को दगा दे गयी। मनोहर नहीं आया। तीसरे दिन भी नहीं। अब छाया को इस प्रतीक्षा में कैसी एक पीड़ा होने लगी। उसके पति-वियोग की ज्वाला कुछ धीमी हो गयी। भरी नहीं एक जीवन की असीम शून्यता, आकांक्षा का पेट।

चक्का अस्त होने में देर थी। छाया ने आटा गूंदकर रख लिया था। चूल्हे में आँच दे रही थी कि 'भाभी-भाभी पुकारता हुआ मनोहर आ पहुँचा। छाया ने देखा, हँसता-सा चेहरा, गौरवर्ण और खिल रहा-सा तारुण्य। सच पूछिये तो छाया ने आज ही पहली बार मनोहर को देखा। उसके व्यक्तित्व का उस पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। मनोहर ने कहा—रसोई की तैयारी है ?

छाया ने कहा—जी हाँ, आज कई दिनों के बाद बना रही हूँ। अक्सर तो एक ही शाम की रसोई दोनों जून काम दे जाती है। बैठिए न, जरा जलपान कर लीजिये। मैं अभी कचौरियाँ निकालती हूँ।

मनोहर ने कहा—मेरे लिए कष्ट न करें, मैं जलपान करके चला हूँ।

नारी सुलभ स्वभाव से छाया बोली—वह मैं समझती हूँ कि आपको यहाँ न मिले, तो आप भूखे नहीं रहते। एक युग से अकेली खाती आती आ रही हूँ। मालूम होता है, आप कल की मेरी बात से नाराज हो गये। माफ कीजिये, कल जी कुछ वैसा था।

मनोहर ने स्वाभाविक हँसकर कहा—जी नहीं, आपने वैसा कुछ तो नहीं कहा। खैर, अगर मेरा न खाना नाराजगी का प्रमाण हो तो लाइये, मैं खा लेता हूँ।

और छाया गरम-गरम कचौरियाँ निकालने लगी, मनोहर खाने लगा। उसने छाया की आँखों में एक स्वर्गीय तृप्ति का आह्लाद पाया। मनोहर ने कहा—रहने भी दीजिये, कहीं आपके हिस्से की सब खत्म ही न हो जायँ।

छाया बोली—आप खाइये भी। ईश्वर ने औरतों को अपना रहने भी क्या दिया है, पेट भी नहीं! औरों की सब प्रकार से औरतें ही हो सकती है और दूसरों को तृप्ति से खिलाकर ही उनका पेट भी भर जाता है। जाने कब से किसी को इस प्रकार नहीं खिला सकी हूँ।

मनोहर कुछ बोल न सका। छाया की आँखों में कैसा तो मादक-सा कुछ छा रहा था। और दूसरे क्षण छाया खो-सी गयी थी। उसकी आँखों में अनुताप और उदासी की रेखा-सी खिंच आयी थी। सचमुच उसे ऐसा नहीं कहना

था। स्त्रियों की सबसे गोपनीय वस्तु, उसका मन ही जैसे प्रकाश में आ रहा था। कड़ाही में कचौड़ी घी में फूल रही थी। उसने उसे निकाल लिया।

'बस-बस, और नहीं, जरूरत से ज्यादा हो गया।' मनोहर ने तश्तरी रख दी और हाथ-मुँह धो लिया। छाया मन में डूबी रही। और आग्रह न कर सकी। मनोहर ने ही जेब से रूमाल निकाल हाथ पोंछते हुए कहा—तो आज आज्ञा दीजिये, काफी देर हो गयी।

छाया बेमनी-सी बोली–हाँ देर तो हुई। क्षमा कीजियेगा।

'जी कोई बात नहीं'। मनोहर चला गया। अंधकार में पृथ्वी डूब चुकी थी। बगल के कोठे से धीमी रोशनी छनकर अंधकार के हृदय में एक दुबली रेखा खींच रही थी। छाया की कचौरियाँ ठंढी हो रही थीं। मन में एक अजीब द्वंद्व था। समय की इस अनंत धारा में तिनके-सा असहाय जीवन। लहरों के अनवरत थपेड़े —भूख-प्यास और क्या-क्या। तारों भरे आसमान की तरह उसका हृदय चलनी-चलनी हो रहा था। आखिर अपने को पीकर जी जाना भी क्या जीवन है! जीवन की धारा उद्दाम है···। नीति और कर्तव्य बाँध बने खड़े थे और स्वभाव निर्झर-सा चट्टानों पर सिर मार रहा था। इस द्वंद्व में छाया आकुल थी, व्याकुल थी...... फूल हँस रहा था, भौंरा भाग गया था। और वह जीवन जो अपने ही रस में जल-जलकर सूख रहा था।

रात नीरव थी। छाया को लगा, तमाम की हलचल उसके हृदय में सँजोकर रात सूनी हो गयी।

कचौरियाँ धरी ही रह गयीं।

सुबह छाया की नींद देर से खुली। किरणें दूबों पर से ओस-बिन्दुओं को बीन चुकी थीं। सुनहले प्रकाश की छाया में छत-छप्पर विहँस रहे थे। जीवन की लहरें वातावरण से लिपट रही थीं। छाया ने जम्हाई लेकर अलसाई आँखों से देखा, सामने जो आकाश की ओर सिर उठाये एक बदसूरत ढूह खड़ा था, उस के कंगूरे के किनारे पास-पास दो चील बैठे थे। बहुत ही पास-पास, नीरव, शांत। और, वह कातर हो उठी। इस कोलाहल भरे संसार में कोई ऐसी आवाज न थी, जो उसके दिल को छूती। बाग में बहार आयी थी और कोयल चुप हो गयी थी।

छाया ने रसोई नहीं बनायी। रात भी वह भूखी रही। अभी भी उसे भूख न थी। संयम के शासन को भावना का विद्रोह तोड़ने लगा था। उसके भीतर की भूखी नारी पागल हो उठी थी। उसने सोचा, यह समाज है, जो जीवन को बाँधता है। नीति का बंधन ही समाज के लिए धर्म है, लेकिन मन ही सत्य है, जो प्यासों से पीड़ित है। और, यह नारी का जीवन है, जो आदर्शों को ढोता जीता-मरता चला जाता है। सामने नीरज की तस्वीर टँगी थी। छाया ने आँसू भरे नेत्रों से एक बार उसे देखा और उसका हृदय उसके चरणों में झुक गया। वह धीरज की भीख माँगने लगी। उसने

बार-बार अपने को धिक्कारा, अपने लड़खड़ाते नारीत्व को सम्हाला।

अपने बिछावन पर वह पड़ गयी। कुछ सुस्ती का अनुभव करने लगी और ताप चढ़ आया। सुबह आसमान के कोने में रेतों की ऊँची-नीची कतार की तरह कुछ सफेद बादलों ने भीड़ लगा रक्खी थी। एकाएक वे अब बरस पड़े। मानों आसमान का हाहाकार गल कर धरती पर लोट गया। छींटे आ रहे थे। छाया ने बिस्तर के पास की खिड़की बंद कर ली। वर्षा का विराम नहीं। सर्दी लगने लगी। चादर ओढ़ ली, लिहाफ डाला, मगर वह सर्दी कि जाने की नहीं। आकाश लगातार रो रहा था और रो रहा था छाया का हृदय। किंतु आँखों में आँसू न थे। यह बरसात थी और सूखी। और, यह सूना, सर्द दिन था, फिर रात थी, और फिर दिन था। फिर""फिर। यह अकेली जिंदगी। जैसे अब ढोयी नहीं जाती। उसे लगा....सामने विस्तृत मरुभूमि" पीछे मरुभूमि........अकेला राही""कहीं ओएसिस भी नहीं कि थोड़ी देर के लिए थकावट को नयी साँस मिल जाय।

अन्धकार हो चुका था। छाया ने चिराग भी न जलाया। उसने सोचा, वे भिखारी ही अच्छे, जो आत्म-सम्मान के बदले दुनियाँ की भीख पर अपने को बेच लेते हैं। एक मैं हूँ.......प्रेम क्या, कोई पानी देने वाला भी नहीं! कोई पास क्या हो, कोई बात पूछने वाला भी नहीं। हा भगवन्, मुझे

मौत भी मुहब्बत नहीं करती—मैं इतनी अकेली छोड़ दी गयी हूँ। यह जीवन..........।

बाहर जूतों की आहट। बरसाती पहने मनोहर आया। 'भाभी' एक आवाज दी और बेखटके अन्दर आ गया। कमरा अन्धेरा था, जीवन का कोई चिह्न नहीं। 'भाभी, कहाँ हो तुम ?' मनोहर ने पुकारा।

'जी यहीं तो हूँ, इस वर्षा में आप आये कैसे ?'

'बस, आ गया समझ लो। खैर, आप अच्छी तो हैं। दिया-विया भी नहीं।'

छाया ने कहा—दिया तो कमरे को ही हँसायगा, मन तो कमरे से भी ज्यादा डूब गया है मनोहर बाबू। आप अपने लिये अन्धेरा ही ठीक है, दिया जलाकर उसे पीड़ा और लज्जा क्यों दी जाय ?'

मनोहर कुछ समझ न सका। ठिठका रहा। छाया बिना कुछ कहे उठ बैठी। दिया जलाया। प्रकाश में मनोहर की मूर्त्ति सपनों की तरह उसकी पलकों में समा गयी। बोली—आप खड़े क्यों हैं, बैठिये।' और उसने भीगी बरसाती लेकर एक ओर रख दी। पूछा—आप कुछ खायेंगे भी, बना दूँ ?

'तकलीफ की क्या जरूरत, मैं खा लूँगा जाकर ?'

छाया को चोट लगी। 'तो आप अभी जा रहे हैं, इस बरसात में ?'

मनोहर ने सहज ही कहा—बरसात क्या, घर पर लोग चिन्तित होंगे।'

छाया चुप रही। मनोहर ने पूछा—आपको अकेली डर लगता हो, तो मैं ठहर जाऊँ।

'अकेला डरना अच्छा। आप, हो सकता है, आदमी के पास रहकर डरें। छाया की आँखों में मदिरा छलक आयी। बोली—-सोचती हूँ, आप, जो स्वयं कितनों की चिन्ता कर सकते हैं, चिन्ता के कारण हो सकते हैं। और मैं हूँ, जिसकी चिन्ता आदमी तो क्या, भगवान् भी नहीं करता। नसीब अपना।

छाया रो पड़ी। मनोहर ने सोचा पास जाकर आश्वासन दे, पर बोल न सका कुछ। छाया अधीर होती जा रही थी। मनोहर का हाथ थामकर बोली—मर्दों के पहलू में दिल नहीं होता क्या? होता भी हो, तो शायद उसके न आँखें होती हैं, न स्पर्श-शक्ति।

मनोहर चुप था। छाया ने उसे खींचकर बिस्तर पर बैठाया। आप पास ही बैठी। उसके रोएँ अङ्कुर की तरह धूप, हवा की आशा से ऊपर उठ रहे थे। बाहर बारिश हो रही थी।

छाया ने कहा—एक की संख्या पूरी हो सकती है! मगर, एक का निर्माण बहुत छोटे टुकड़ों से होता है और फिर एक एक ही है, एकान्त, अकेला।

मनोहर ने कहा—तो मैं अभी चलूँ भाभी। फिर आऊँगा। अच्छा, नमस्कार।

छाया बोली—मनोहर बाबू, संसार में नमस्कार सुलभ है, दुर्लभ हैं, अधार। आधार जब जान जाता है कि मुझ पर कोई टिक रहा है, तो वह हट जाता है। आधारित आकाश से नीचे आ जाता है। उसका जीवन, उसके अरमान चूर हो जाते हैं। खैर, नहीं ही रहते तो जाइये।

मनोहर रुक गया। छाया के अधरों का कंपन सो चला था, जैसे परकटा कबूतर तड़पकर शान्त हो जाता हो। उसकी आँखों की चमक खो रही थी, मानों अन्तिम लौ लेकर चिराग गुल हो चुका हो। वह स्थिर हो गयी।

मनोहर ने उसे हाथ का सहारा लेकर बिठाया। छाया का सिर उसके कन्धे पर लोट पड़ा। लटें जमीन चूमने लगीं। मनोहर का एक हाथ छाया की पीठ पर नीचे था, दूसरा छाती से झुककर हाथ पर। आँखें बन्द थीं। दिल बोल रहा था। बाहर बारिश हो रही थी।

समय क्या हुआ, पता नहीं। बारिश हो रही थी। बाहर का द्वार खुला था। कोई आया। हाथ में एक सूटकेश, कपड़े लतपत। उसने पुकारा—छाया। छाया ने विस्मित नेत्रों से देखा—नीरज आ गया, उसका पति। बारिश हो रही थी।

आखिरी दिन

—कौन है ?

—क···औन ?

—कौन है ? बोलता क्यों नहीं, मुँह में ताला पड़ा है ?

रेणु, रेखा, सुरेश....दीनू कौन है रे ? बहू, देखो तो जरा कौन है ? घंटे भर से पूछ रही हूँ और मुँह में आवाज नहीं। भगवान् करे, इस मुँह से फिर कभी आवाज न निकले। हाँ, मैं बूढ़ी हो गयी, तो बात की भी न रही। घर भर ने जैसे कसम खा ली है। हे भगवान्, तुम्हीं विचार करना'—और बूढ़ी ने ज्योतिहीन आँखें ऊपर की ओर उठायीं।

'आपकी यह कौन-सी आदत है माँ, झट गाली दे बैठती हैं, झट शाप दे बैठती हैं। जानती ही तो हैं, घर का कोई होगा। दिन-दहाड़े चोर थोड़े ही धँस पड़ेगा घर में। नः, आपकी मति बिगड़ गयी है।' बूढ़ी की खाट के पास आकर मँझली बहू ने कहा।

बूढ़ी को जैसे और कड़ी ठेस लगी। तमक कर जवाब दे ही तो बैठी—अरे मुझसे भी गयी-बीती होगी। दीनबंधु मालिक हैं। मैंने पूछा, तो मेरी मति बिगड़ गयी। मैं पूछने से भी गयी।

'तो कौन आपको जवाब देने बैठी है, काम-धाम है कि नहीं ? बेटे से कहतीं क्यों नहीं कि एक नौकर मुँह के पास बिठा दे, जो रात-दिन आपको इस 'कोन' का ही जवाब देता रहे। भजन गया, पूजन गया, बस यही कौन कि कौन। आखिरी दिन है, जरा रामनाम लें, नहीं तो, जाने कौन-सी गत होगी आपकी। जबान पर तो गाली ही चढ़ी है।

बेटे की बात जो हुई, तो बुढ़िया और चिढ़ी–'बड़े बाप की बेटी आई है! और लाद दिया होता बाप भड़ुए ने तो जाने पाँव जमीन पर पड़ते ही नहीं। बराबर की बात करती है। आज आये सुरेश, तुम ही घर में रहो कि मैं। इनसे सुख तो ढेर हुआ, अब लात खाना भर रह गया।'

'हाँ-हाँ, आप लाख बार कहें बेटे से, मैं उनकी व्याहता ही हूँ, कोई खरीदी हुई बांदी नहीं। मैं भी तो आज कोई किनारा करा कर ही दम लूँगी। यह सांझ-विहान हरिनाम की तरह गाली-सराप मैं तो नहीं सुन सकती। भला बुरा सब का है।

आग लगे मेरे मुँह में!' और दोनों हाथों से बूढ़ी ने दोनों गालों पर पूरे जोर का तमाचा जमाया और रोने लगी। हे भगवान, मेरे ही लिये तुम्हारे यहाँ जगह नहीं। इसी दिन के लिये तुमने छोड़ रखा है मुझे!

बुढ़िया रोने जो लगी, तो चुप काहे को हो। उन धँसी हुई आँखों में एक बूँद भी पानी नहीं और आवाज ऐसी, जैसे जीवन में इसे रोना आया ही नहीं।

यह आज की नहीं, रोज की बात थी। इसलिए पास-पड़ोस के कोई आये नहीं। घर के भी किसी ने बूढ़ी को चुप नहीं कराया। सहानुभूति के अभाव में उसकी आँखों का पानी आप ही सूख गया और चुप हो रही।

कान और जबान, बुढ़िया के पास अब दो ही चीजें रह गयी हैं। आँखें बैठीं, शक्ति जाती रही और उस झुकी हुई खाट से चिपटी बुढ़िया आज-कल कर रही है। जानें कब से उसका बिछावन नहीं बदला गया। पास जाने से एक तरह की बदबू नाक से अँतड़ियों में घुस जाती है। बुढ़ापे ने बुढ़िया के चेहरे पर एक ऐसी वीभत्सता ला दी है, कि उस पर श्रद्धा और भक्ति तो दूर रहे, घृणा ही होती है। और यह है छे बेटों की माँ, दर्जनों नाती पोतों से दिन-रात जिसके घर में लावा फूट रहा है।

बुढ़िया बड़ी देर तक चुप रही, जैसे उसने अब न बोलने की ठान ली हो। उसने उस गंदे और मैले लिहाफ को, जो इतना भारी था कि उसके नीचे बुढ़िया दबी पड़ी रहती, ओढ़ने की कोशिश की। मगर वह कुछ ऐसा उलझा था कि उससे सुलझाते न बना। भौंहें सिकोड़ कर एक रंजीदगी का भाव लिए वह कुप्पा बनी पड़ी रही। तब तक किसी ने लिहाफ को ओढ़ा दिया। बुढ़िया चुप बनी रही। कुछ देर बाद कछुए की तरह मुँह निकाल कर पूछा—क्यों बहू, आज इसकुल से लड़के आये नहीं? चार तो कब का बज चुका।

बहुएँ बहुत पास ही बैठी थीं। ऐसा नहीं कि उन्होंने सुना ही न हो। बूढ़ी की यह आदत ही है, समझ कर चुप रहीं। मगर बूढ़ी के दिमाग में एक बार कोई खुराफात आ तो-जाय। वह फिर बोली—'बहू, चार तो बज गया होगा, क्यों? वही तो कहती हूँ, लड़के अभी तक आये क्यों नहीं? और दिन तो कब का आ जाते थे, न? न; यह साँझ होना अच्छा नहीं। आज हिदायत कर देना, बल्कि कुछ कम पढ़ें सो कबूल; मगर चका डूबने के पहले ही घर आ जाँय।

कोई जवाब नहीं मिला; तो भी बुढ़िया का धीरज न छूटा। बोली—और आज सुरेश, दिनेश कोई भी नहीं आया। जी से जहान है। यह नौकरी किस काम की। वही सवेरे जाता है और रात गए घर आता है। सवेरे का दो दाना पेट में है और दुनियाँ भर का काम। बहू, ओ बहू, अरे सुनती नहीं, बहरी हो गई क्या? रामू की माँ, बड़की···मँझली। कोई नहीं, आज सबकी जबान बन्द, सब के ओंठ सिल गये हैं। हरे-हरे, सबने मुझे तमाशा बना रखा है, जवाब देना भी पाप!

बूढ़ी ने जरा दम लिया, मानों उत्तर की प्रतीक्षा कर रही हो। फिर जैसे लोगों की शरारत उसकी समझ में आ गयी हो, बोली—हुँ, तुम लोग भी बूढ़ी होगी कभी....! बूढ़ी की आवाज में एक दारुण वेदना थी।

'हमलोग भी बूढ़ी होंगी, तो क्या होगा? आपकी तरह मति को घोल कर पी नहीं जायंगी। इस गत से जहर महंगा हीन होगा'—मझली ने जरा तुनक कर कहा।

—'झगड़ा करने में आवाज कितनी ऊँची और कुछ पूछो तो जैसे गूँगी हो गयी हो।'

—'आखिर आपके पागलपन का उत्तर देने को आप जैसी पागल कौन बने! जब देखो, बे सिर पैर की बात! बैठी-बैठी माला फेरिये, तो वह काल भी बने।'

—'तो मैंने क्या बेजा कहा, यही न पूछा कि लड़के अब तक क्यों नहीं आये?'

—'लड़के कहाँ से आयें, अभी-अभी तो वे गये हैं स्कूल। आपने अभी-अभी तो खाया है। हाथ भी नहीं सूखा ठीक से और सांझ हो गयी! और हो ही गयी तो आपको क्या? इसकी चिन्ता करने वाले बीसियों हैं, आप भजन करें। जिस देश में मुर्गी नहीं, वहाँ भी सवेरा होता है। मौत के करीब आकर भी दुनियाँदारी नहीं भूलती।'

बूढ़ी ने अपनी गलती महसूस की। इसलिये वह नर्म पड़ गई। बोली—अभी दोपहर ही हुआ है? मैंने समझा कि साँझ हो गयी!

और फिर वह लिहाफ में मुँह छिपाकर पड़ रही।

कुछ देर बूढ़ी इस तरह पड़ी रही कि उसके मरने-जीने का निश्चय नहीं किया जा सकता। अगर आँगन में बच्चा रो नहीं उठता, तो नहीं कहा जा सकता, वह कब तक इस तरह पड़ी रहती। बच्चा रोया नहीं कि उसने गर्दन निकाली—आखिर सब मर गयीं क्या कि बच्चा रो रहा है। और किसी को चुप कराने की फुर्सत नहीं। इस तरह रोते-रोते किसी दिन दम

ही अटक जायगा बच्चे का। वाह री मां! इसी ढंग पर तो ये लोग बच्चों को आदमी बनायेंगी। सुनती हो कि नहीं, जीती हो या मर गई? अरे, बच्चा रो रहा है, बच्चा! सो गई क्या? बाप रे! यह कौन नींद। रात भर जागकर बाप का धन जोगती थी? बहू, अरी ओ बहू! जाने कैसे पेड़ की शाख है, बच्चे का तो ख्याल ही नहीं।'

बहू ने बच्चे को गोद में उठाया और खड़ी-खड़ी हिलाने लगी। सोना रे, रूपा रे, यह ले, वह ले। सारी बातों से वह हार गई। वह चुप न हुआ। बहू और खिजला गयी। तड़ा-तड़ दो चार चपतें जड़ दीं। उसका जी जल गया--बाबा, ऐसे बच्चे से बाँझ भली, खा गया मुझे तो।'

चपत की अवाज लिहाफ में मुँह छिपाये रहने पर भी बुढ़िया के कानों में पड़ी। सुई की आवाज भी उससे बच नहीं पाती। बुढ़िया की समस्त चेतना कानों में ही तो सजीव हो उठी थी और उसकी प्रतिक्रिया थी उसकी जबान।—'हाँ-हाँ, मार दो, मार दो, मार ही दो उसे, चुप कराना तो बन नहीं पड़ा, अब मार डालने से ही फिर नहीं रोयेगा। उसे दूध पिला, हिचकियाँ तो बँध रही हैं उसकी, हुकुम पर चुप कैसे हो?

बहू ने दूध भी दिया उसके मुँह में। फिर भी वह चुप न हुआ। खिजला कर उसे बूढ़ी के बगल में पटक गयी। बूढ़ी ने टटोल कर उसे अपनी छाती से लगाया। अपना वर्षों से सूखा पड़ा स्तन उसके मुँह में लगाया। वात्सल्य की प्रबल

भावना उसके हृदय-मरू को जरा देर के लिये प्लावित कर गयी। बूढ़ी आत्म - विभोर हो रही। उसने बच्चे को चुप कराने की और कोई चेष्टा नहीं की, की नहीं क्या, वह भूल गयी। उसकी गढ़ों में धँसी हुई निकम्मी आँखों में पहले की, बहुत दिन पहले की, दुनियाँ दिखाई दी। इसी छाती को कभी किसी ने अपनी प्यार भरी छाती दी थी, इसी छाती के अन्दर किसी के लिये प्रेम का पारावार उमड़ता था। सुरेश, दिनेश, रमेश, गणेश सब इसी छाती से लग कर पले, इन्हीं शुष्क स्तनों को पीकर पुष्ट रहे .... उसे बहुत दिन हो गये—बहुत दिन। बूढ़ी की साँस जैसे फूली जाने लगी, वह स्पर्श जैसे सिहरन पैदा करने लगा। दो क्षण के लिये बुढ़ापा उसके आगे से हट गया। वह उन दिनों और दुनियाँ में आ गई, जो जिन्दगी को जिन्दगी बनाये रहते हैं। बच्चा उसकी छाती से लगकर सो रहा। और बूढ़ी बड़ी देर तक लिहाफ के अन्दर खोई-खोई-सी रही।

साँझ से कुछ पहले बाल बच्चों सहित शांता आई। शांता बूढ़ी की तीसरी लड़की थी। चालीस से कुछ अधिक उम्र। कद में छोटी, ढब में मोटी। बालों में एकाध सुफेद रेखायें दौड़ गयी हैं। मुँह में पान और आँखों में दुनियाँ देखे हुओं जैसी अनुभव गम्भीरता। माँ को एक नजर मरने से पहले देख जाने का उद्देश्य लेकर आई थी। बहुओं ने आदर-अभ्यर्थना की। ऐसे मौकों पर अन्दर से खुशी तो नहीं होती, मगर दुनिया के साथ-साथ अपने को ले चलने के लिए यह

जरूरी-सा होता है। शांता बूढ़ी की खाट के पास गई। लिहाफ में लिपटी पोटली बनी बुढ़िया पड़ी थी बरामदे पर, जहाँ उसकी वह पुरानी खाट, जिसकी रस्सियाँ छूट-छूट कर जमीन चूमती थीं, पड़ी थी। झाड़ू भी नहीं लगी थी।

जहाँ-तहाँ खैनी की पीक जमी थी और गंदगी को दूनो कर रही थी। बुढ़िया यों पड़ी थी, जैसे घर के कूड़े का ढेर किसी कोने में पड़ा रहता हो। शांता ने भीतर ही भीतर एक लम्बी साँस ली। उसने धीरे से पायताने के लिहाफ को हटा कर बूढ़ी के चरण छुए और अपने हाथ को सिर से लगाया। बूढ़ी खोयी सी थी, स्पर्श अनुभव कर जैसे चीत्कार कर उठी—'कौन है रे, मै ही सताने लायक हूँ। हे भगवान!

रामू की माँ ने कहा—शांता बहन आई हैं, आपको प्रणाम कर रही हैं।'

जैसे जी में जी आया हो, इस तरह बूढ़ी ने कहा—शांता! ओ, तुम आयी हो बेटी, भला किया। बूढ़ी ने उठ बैठने की कोशिश की, किंतु शांता ने फिर सहारा देकर उसे सुला दिया। "तुमलोग नहीं देखोगी, तो अब मुझे देखेगा ही कौन! तुम लोगों के रहते मैं उठ जाऊँ, यही विनती तो भगवान से करती हूँ रात-दिन। जीओ! बच्चे, धन-वंश बढ़ें। मेरी अब जरूरत भी क्या रही। जाने भगवान कौन-सा दिन देखने को मुझे रक्खे हुए है। इतना कहकर बूढ़ी रोने लगी। आज उसकी नीरस आँखों में सचमुच ही पानी छलक आया। बेटी

ने आदर से अपने हाथों से जो उसे पोंछा, तो वह बाँध जैसे और भी टूट गया।

शांता ने कहा—'रोती क्यों हो माँ, तुम्हारे क्या नहीं ? भगवान करे, ऐसा भरा घर सब का हो। ये फल-फूलों से लदी जितनी शाखें देखती हो, इन सबों की जड़ तुम ही तो हो। ऐसा दिन कौन नहीं देखना चाहता ?

बूढ़ी ने जरा दम रोककर जैसे अपने सौभाग्य का स्मरण कर लिया। फिर बोली—अपना शरीर-संभाग रहते उठ जाना ही भला है। जिसे दूसरों का बोझ होकर रहना पड़े, दूसरों के सुख का काँटा होकर रहना पड़े, उसका क्या जीना बेटी। आँख नहीं, देख नहीं पाती। शक्ति नहीं कि उठूँ। हर बात में दूसरों का सहारा। अपना भी कष्ट और दूसरों को भी भार। जानें भगवान की क्या मरजी है।' बूढ़ी अनंत आकाश की ही तरह सूनी पड़ गयी।

'इस बात की चिंता तो वे करती हैं माँ, जिन्हें आगे-पाछे कोई न हो। किसी का घर सूना रहता है। तुम्हारे तो आदमी नहीं अँटते। तो क्या बहुएँ बातों में नहीं हैं ?

बूढ़ी ने इस बार जल्दी से कहा—सो तो भगवान इनकी आयु सौ की करे। इनका रोआँ रुलाऊँ, तो किसी जनम में मेरा भला न हो। सेवा में तो ये कोई कमी नहीं करती। समय पर खिलाना, उठाना-बैठाना, सब कुछ तो ये ही लोग करती हैं। मैं क्या हिल भी सकती हूँ। क्या रात, क्या दिन, आवाज दी नहीं कि हाजिर है लोग। हाँ, शांता, तू गया से तिलकुट तो

जरूर लायी होगी। एक युग बीता तिलकुट खाये। मरने से पहले खा लूँ एक बार। वहाँ फिर दुनियाँ की ये चीजें कहाँ मिलने को हैं।' बुढ़िया ने पोपले मुँह के अंदर एक बार जीभ को हिलाया। वर्षों बाद आज तिलकुट के स्वाद की याद से मुँह में जैसे पानी आ गया। बूढ़ी ने एक सूखा घूँट पिया।

शांता साथ में कुछ ले तो आयी थी, लेकिन उस कुछ में तिलकुट नहीं था। अपनी भूल उसे एक कड़ी चोट दे गयी। माँ की एक अन्तिम अभिलाषा, जिसकी कोई बिसात नहीं, उसी के चलते अतृप्त रहकर माँ के साथ चली जायगी। लेकिन 'नहीं' कह कर उसकी आशा की इमारत को वह गिरा भी देना उचित नहीं समझ रही थी। इसीलिये, वह चुप हो रही कि किसी न किसी तरह गया से तिलकुट मँगा कर ही रहूँगी। तब तक बुढ़िया बोली ....और शांता, आज बेटी तू अपने हाथों खीर पका कर दे मुझे। जिनगानी का क्या ठिकाना। तेरे हाथ की खीर खूब बनती है। कई साल हुए होंगे, जब तूने आखिरी बार खीर बना कर जतन से खिलाई थी। बहुएँ भी खीर अच्छी बना लेती हैं, मगर तेरी बात को नहीं पातीं।

बुढ़िया ने ओठ चाटा। सूखे-सूखे चुसके ओठों पर लाल पतली जीभ फिर गयी। फिर गंदे कपड़े की गाँठ से बुढ़िया ने चूना मली हुई खैनी एक चुटकी निकाल कर दंत रहित मसूड़ों और ओठ के बीच में डाल ली और बड़े बदसूरत ढंग से उसे चबलाने लगी। दो ही सेकंड रह कर बोलीं—'जाने किस

दूकान से ले आता है उठाकर। एक दिन भी तो तेज लगती पत्ती! वह इमामन मियां जब से मरा, फिर खैनी खाने को नहीं मिली। जब देखो, सड़ी पत्ती। अब तो देखो दूकानों में, उन चीजों के दर्शन ही नहीं होते। न वह दूध रहा, न घी। सबमें ठगी। वह दिन ही न रहा, न वह दुनिया ही रही। गया में तो अच्छी खैनी मिलती होगी। कभी भेज तो देना जरा ख्याल से।

चूंकि शांता इसके पहले ही उठकर चली गई थी, इसीलिए बुढ़िया की बातें उसी तक रहीं। बुढ़िया ने टटोल कर देखा, खाट सूनी थी। वह चुप रही। इतने में स्कूल के बच्चे लौटे, एक हल्ला-सा पड़ गया। उसे लड़कों के विलम्ब की जो चिंता थी, वह तो कब की काफूर हो गयी। अब बोली—बाप रे, इतना शोर कि कान का पर्दा फटा जाता है। घर आये नहीं कि आसमान उठा लिया सर पर। किस तरह स्कूल में चुप बने रहते हैं। यह शरारतों की गांठ यहीं आकर खुलती है—हमारे ही सामने। हमने जैसे लड़के देखे ही नहीं। गणेश, सुरेश, ये भी किसी दिन लड़के ही थे। और, ये उन्हीं के लड़के हैं.........भगवान्, तुम्हीं बचाओ।

रमेश के बेटे को शरारत सूझी—उसे एक मजे की दिल्लगी आयी। एक हलकी-सी सींक लेकर उसने बूढ़ी के गाल पर रक्खी। थोड़ी देर तक तो उसके गाल पर बूढ़ी को स्पर्श का अनुभव ही नहीं हुआ। जब हुआ, तो मालूम हुआ, कोई चींटी चेहरे पर खिसक रही है। हाथ लगाया तो, नदारद। थोड़ी

देर में फिर गुदगुदी लगी। थोड़ी देर में फिर। बूढ़ी ने समझा, मक्खी है। वह परेशान-सी होकर बुदबुदायी—'इन मक्खियों के मारे तो जान आजिज है।' मगर, इस बार जो वह उसे उड़ाने गयी, तो किसी के हाथ से हाथ टकराया। अब तो मानों कोई उसकी जान ही ले रहा हो—ऐसी घबराहट से वह बोली—घर में क्या किसी के आँख है, कोई देखता है इन लड़कों की शैतानी ? जान खाये जा रहा है। अभी तो लगा था आँख में। हे भगवान, हमारे लिये तुम्हारे घर जगह नहीं। ये लोग तो मुझे बेमौत मारे डालते हैं। बुढ़िया रोने लगी।

बेटे की करतूत पर तो क्या, बूढ़ी के स्वांग पर रमेश की मा को क्रोध आ गया। और यह क्रोध उसने बेटे पर ही उतारा।

बूढ़ी की खाट के पास आकर उसने उसे पीटना शुरू किया। लडका रोता जाता, वह पीटती जाती, वह पीटती जाती, लड़का रोता जाता। बूढ़ी से भला यह सहा जाने को था! उबल पड़ी बहू पर—अरे, दया-माया तुम्हें छू गयी है कि नहीं। जानवर की तरह पीट चली हो। बचने भी दोगी उसे या खा ही जाओगी !

बहू ने झिड़क लिया—'बस, बस, रहने भी दीजिये, अपने ही पास रखिये अपनी दया-माया।' और फिर प्रहार।

इस बार बुढ़िया ने सारी शक्ति बटोर कर अपनी शिथिल पड़ी काया को उठाया—और अन्दाज से बहू पर जोरों का

एक तमाचा जड़ कर, लड़के को अपनी तरफ खींचने लगी। —छोड़ो, तुमसे न बने बाप के घर चली जाओ, हमारे जीते जी इस घर में यह नहीं होगा। मैंने एक बार गणेश को दो धौल जमाये थे। इसके लिये उन्होंने मेरा क्या हाल किया था, मैं ही जानती हूँ। मगर, अब तो पुरुष ही औरतों के जूतों तले रहते हैं। बाप रे, यह खूनी स्वभाव।'

बहू चली गयी और बूढ़ी की कंकालसार छाती में मुँह छिपा कर बच्चे ने अपनी सिसकियाँ सुलायीं।

बूढ़ी की आँखों में प्रकाश की जो एक हलकी छाया दीखती थी, वह भी अब गायब हो गयी। धीरे-धीरे संध्या हो गयी। अन्धेरा फैल गया। शांता आकर बोली—'माँ, साँझ हुई, चलो, थोड़ी - सी खीर खा लेना। सर्दी बढ़ जायगी तो फिर उठ न पाओगी।'

खीर के नाम से बूढ़ी के मुँह में पानी भर गया। बेटी का सहारा लेकर वह खाट के नीचे उतर बैठी। खीर की थाली सामने रक्खी गयी। बूढ़ी ने थाली में हाथ लगाया और जैसे कुछ पा गयी हो। याद कर बोली—मणि, मीरा, माला कहाँ है रे, आ इधर।' शांता बोली—खीर बहुत है, वे लोग खाँ लेगें पीछे, तुम खा लो।

'नहीं, नहीं, सो कैसे होगा, बाल-बच्चे टुकुर-टुकुर मुँह देखते रहेंगे और मैं खा लूँगी।'

'मुँह काहे को देखेंगे। खीर और भी है। इतनी है कि वे खा भी न पायेंगे सब।'

'सो हो, मगर मेरा परसाद तो नहीं होगा न।'

खीर जैसी प्यारी चीज के लिये लड़कों में लोभ स्वाभाविक था, मगर बूढी ने जिसे अपने हाथों छुआ है, उस खीर के लिए घृणा से लोभ कम था। लड़के आने में आगा-पीछा करने लगे। देर होते देख बुढ़िया बोली—'तो उन्हें आँख क्यों दिखाती हो, मैं डाईन नहीं हूँ कि मेरा छुआ खायेंगे तो तुम्हारे बाल-बच्चों का अनिष्ट होगा।'

'बूढ़ी यह कहते-कहते रुक गई और खाने लगी। शांता ने बूढ़ी की मार्मिक पीड़ा को समझा और लड़कों की तरफ आँख का इशारा किया। लड़के बूढी को घेर कर अपने-अपने हिस्से के लिये लगे झगड़ने। मुझे, और मुझे, एँ उसको उतना दिया आदि-आदि। बूढ़ी का कलेजा भर गया। लड़कों को दे-लेकर खाया-पिया। आशीर्वाद की झड़ी लगा दी और बोली—अब एक दिन मालपूए खिला देना। जिनगानी का कौन ठिकाना है, यहीं रहकर खा-पी लेना है।'

शांता ने सहारा देकर बूढ़ी को खाट पर लिटा दिया और ऊपर से लिहाफ ओढ़ा दिया। 'हाँ, अब तुम लोग खा-पी लो जाकर'—कहकर बूढ़ी चुप पड़ रही।

अब वह पहाड़-सी रात, लिहाफ के अन्दर बूढ़ी ने सोचा। ऐसी कितनी बड़ी-बड़ी रातें गयीं और कौन जाने अभी और कितनी जाने को है।·· शांता, शांता, सो गयी क्या ? आज बहुत सबेरे सब सो गये। अभी तो ठाकुरबाड़ी की

आरती का घंटा भी नहीं बजा है। इसी बीच में सो गये सब !' बूढ़ी ने करवट लीं। करवटों में रात क्यों कटने लगी। "कौन ? कौन है ?" रह-रह कर बूढ़ी यही चिल्लाती रही। जाड़े की रात, घर भर सो चुका था। किन्तु साँझ का सोया लड़का, दूध खोजता हुआ रो उठा।

माँ पीठ किये लेटी थी। पहले तो नींद में ही लड़के ने दूध को खोजा, जब नहीं मिला, तो आजिजी से रो उठा। बाहर से बूढ़ी चिल्लायी—यह नींद है कि मौत! लड़के के रोने से गाँव भर जाग गया, किन्तु वाह रे माँ! हुँः आजिजी से बूढ़ी चुप रही। लडका रोता रहा। फिर सब कुछ भूल कर बूढ़ी ने पुकारा—बहू, अरी ओ बहू, रामू की माँ..........मर गयी ?

'रामू की माँ, दे जाओ बच्चे को मेरे पास। हे ईश्वर, वही सांझ को सोई है, भोर होने को आया; किन्तु मुर्दे सी पड़ी है, अरे मर जो गया रो-रो कर।'

इस बार बूढ़ी प्रातकाली गाने लगी,

"जागिये गोपाल लाल पंछी बन बोले।

बच्चा उसी तरह रोता रहा। बूढ़ी ने तै तो कर लिया था कि वह न बोलेगी। लेकिन, संयम स्वभाव को कब जीत सका है ? बरबस मुँह से निकल गया—बाँझ ही रहती तो भगवान का क्या बिगड़ता। जिसके कोई लड़का नहीं, वह कितना कुछ करता है एक लड़के लिये और जिसके है, उसका यह हाल !'

रात अभी आधी भी नहीं गयी। परन्तु, बूढ़ी को लगा, वह बड़ा-सा चमकीला तारा, जिसे देख कर वह गंगा नहाने का समय ठीक करती रही थी, छप्पर के नीचे झूल गया। सतभैया भी लटक गया एकबारगी। और वह बुद-बुदा उठी—

'चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर
तुलसीदास प्रभु चंदन रगड़े तिलक करैं राम रघुवीर।'

अचानक बूढ़ी के पेट में दर्द हुआ और जैसे पाखाना होगा। बहुओं के नाम ले लेकर लगी बूढ़ी चिल्लाने। किन्तु इस समय सेवा के मेवे से लिहाफ की गर्मी, और नींद का सुख ज्यादा मंहगा था। किसी की नींद भी खुली तो वह सोये रहने का ही बहाना बनाये रही। शांता के लिये आज पहला दिन था। कर्तव्य के तकाजे से वह उठ बैठी। बूढ़ी को बाहर ले गयी। लिवा आई और आशीर्वाद से लद कर सो रही।

थोड़ी देर के बाद बूढ़ी ने फिर पुकार मचायी। अनुरोध, किया, खुशामद की, झल्लायी, शासन के स्वर में कहा—श्राप दिया, लेकिन सब बेकार। आखिरकार अछता-पछता कर वह खुद उठी। टटोल कर खाट से उतरी। आँख को बैठे युग बीत चुका था, इसलिये अनुमान ठीक बैठा नहीं। बूढ़ी के पाँव झूठे पड़ गये। वह लुढ़क कर आँगन में जा रही और मर गयी।

सवेरे जब लोग जागे, तो बूढ़ी की लाश ऐंठ कर पड़ी थी। ओस की दो-चार बूंदें जहाँ-तहाँ मोतियों जैसी जड़ी थी।

रोना-धोना जारी हो गया। गाँव भर के लोग जुटे। रमेश की माँ मरी, इस बात की शोहरत हो गयी। रोती हुई बहुओं को लोगों ने दिलासे दिये। बूढ़ी की मौत पर रोना क्या? खुशियाँ मनानी चाहिये। रोग नहीं, सोग नहीं भरा घर छोड़कर चल बसी, ऐसा कै आदमी का भाग है। बूढ़ी बड़ी भागवान थी।

बहू ने कहा—'हमारा तो एक बड़ा भरोसा ही उठ गया। बूढ़ी थीं तो क्या, उनके रहते घर की हमें चिन्ता ही नहीं थी। रात-दिन, यह रे, वह रे, कौन रे, और क्या रे, करती ही रहती थीं। अब तो घर ही सूना हो गया। मिट्टी हो गया।'

बहुत-सी ध्वनियों के सहयोग से आकाश काँप उठा। बूढ़ी की दिवंगत आत्मा को इससे शांति मिली या नही, नहीं कहा जा सकता, मगर दुनिया ने देखा, उस बूढ़ी के लिये रोने वाले थोड़े नहीं हैं।

प्रतिक्रिया

हमजोलियों को विनीता पर रश्क है। पास-पड़ोस की बूढ़ी-पुरखिनें कहती हैं, उसने पूर्व-जनम की तपस्या का फल पाया है। और सचमुच ही ऐसा सोचने का कारण है। विनीता गाँव में पली, शिक्षा और सभ्यता के साये से कोसों दूर। रंग-ढंग सब देहाती और रूप भी साधारण। किन्तु पति मिले मनोविज्ञान के प्रख्यात अध्यापक। पढ़ेलिखे लोगों में काफी इज्जत-रुतवा, लड़कों पर धाक। आमदनी काफी और स्वभाव के शांत, सरल, हँसमुख। नयी रोशनी में पले, विलायत से विशेष उपाधि लेकर लौटे, चकाचौंध की दुनियाँ देखी। किन्तु विनीता के देहातीपन की शिकायत में कभी एक शब्द भी न कहा। जो कमाते, सब विनीता के हाथ में रख देते। उसकी हर भूल को हँसकर टाल देते। उसकी छोटी से बड़ी, हर सुख-दुःख की बात का जरूरत से ज्यादा ख्याल रखते। कॉलेज से एक भी दिन खाली हाथ नहीं आये। रोज विनीता के लिये कोई न कोई नयी चीज जरूर लाते। किसी स्त्री को इससे अधिक और क्या चाहिये?

किन्तु प्यार की इस परिपूर्णता में विनीता को क्या तो एक महान् अभाव खटकता रहता। वह उदास रहती। सोचती,

क्या यही स्त्रियों के लिये सब कुछ है? दुनिया में रहकर अच्छा भोजन और-वस्त्र पाना ही क्या अन्तिम आकांक्षा है? वह आँगन में खड़े चम्पा के पेड़ को देखती, पत्तों की हरयाली से झूमता हुआ फूलों के सुनहले हास से इतरा रहा था। उसकी खुशबू से चारों ओर महमह। लेकिन एक भी भौंरे का गुंजार नहीं—नीरव, निर्जीव।

आज उसने पति के लिये जलपान बना रक्खा था। खिड़की पर खड़ी-खड़ी उनकी राह देख रही थी। कॉलेज से थके-माँदे लौटे हुए पति को प्रेम से जलपान कराकर वह निहाल हो जायगी। एक इसी लालसा में वह स्वप्नों का स्वर्ग गढ़ रही थी कि मनोविज्ञान की पोथियों का बंडल लिये पति लौटे। आँखों में गहरी चिन्ता के भाव, दूर किसी भाव-लोक में खोया हुआ मन। बाहर के कमरे में मेज पर उन्होंने किताबें रख दीं और कुर्सी पर बैठ गये। विनीता द्वार के पास जाकर खड़ी हो गयी। पति का खोया-खोया सा भाव देख कर उसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। पति ने ओठों पर हँसी लाने की चेष्टा करते हुए कहा—विनू? अरे, कुछ कहना है क्या?

नम्रता में डूबकर वह बोली—आप जलपान नहीं करेंगे?

जैसे कहीं दूर से आ पड़े हों—जलपान? कुछ खाने का वैसा मन नहीं, क्यों बेकार तकलीफ करोगी।

विनीता वहाँ से हट गयी।—'तकलीफ! पति की सेवा भी तकलीफ में ही गिनी जाती है? उसे अपार दुःख हुआ।

हाय, बेचारी को यह भी नसीब नहीं कि पति को कभी मन मुताबिक खिला भी सके। ये कपड़े-लत्ते, गहने-पाते ही क्या प्रेम हैं ? हे भगवान ! उसने देखा, साँझ का अंधकार क्रमशः घना होता आ रहा है। वह बरामदे में मन की दुनिया में डूबती-उतराती बैठ गयी।

रात के बारह बज चुके थे। पति पुस्तकों के पन्ने में सदा की भाँति खो गये थे। विनीता इसलिये जाग रही थी कि पति सो जायँ और तब वह सोये। उसने देखा, मच्छड़ बुरी तरह उन पर टूट पड़े हैं। उन्हें इसका खयाल भी नहीं। वह एक पंखा ले आयी और झलने लगी। पति चौंक-से उठे और बोले—अरे, विनू ! तुम अभी जाग ही रही हो ? जाओ, सो रहो। रात बहुत जा चुकी। गर्मी बहुत है। देखो न, कम्बख्त बिजली वाला अभी तक पंखा नहीं लगा गया। न हो, तो एक पंखापुलर ही रख लेता हूँ। बड़ी तकलीफ होती है तुम्हें।

पति इतना कुछ कह गये कि विनू अब क्या कहे ? वह चुप हो रही। अगर कोई देखता, तो उसकी दोनों पुतलियाँ आँसू में डूब चुकी थीं। पति की आँखें फिर छापे के हरूफों से उलझ गयीं। विनू मानो चलती गाड़ी की बगल से एक खड़े पेड़ की तरह दूर निकल गयी !

विनीता ने कहा—कुछ अपना भी खयाल रक्खें; मेरा ही खयाल करने से यह जाहिर नहीं होता कि मुझ पर आपका असीम प्रेम है।

पति ने किताब बन्द कर दी और बोले—पगली हो विनू, कोई भी आदमी अपने आपको भूल सकता है ? आदमी अपनेपन से ही तो आदमी है ?

देहात की लड़की विनीता दर्शन की इस गहराई में कहाँ डूब पाती ? उसने कहा—भूलना और किसे कहते हैं ? दिन नहीं, रात नहीं, जब देखो किताब है कि आप हैं। एक बजने को है और सोने का नाम नहीं। तन्दुरुस्ती यह अत्याचार सह सकेगी भला !

पति ठठाकर हँस पड़े। बोले—अजी, तुम बड़ी भोली हो। एडीसन साहब केवल तीन घन्टे सोते थे और.........

—खैर, कोई सोते हों, आप सोने का नियम रखिये। कम से कम मेरी खातिर।

पति ने देखा, विनीता की आँखें भर आयी हैं। वे उसका सर सहलाने लगे।

इधर विनीता पति के जीवन में एक स्पष्ट परिवर्तन देख रही है। आजकल किताबों से उनका अधिक समय बच्चों के बीच बीतता है। वह-शाम पास-पड़ोस के बच्चों को बटोर लेते हैं। केवले, नये-नये खिलौने बाँटते हैं। विनीता के लिये उन्हें समय नहीं है। हाँ, उसके अभावों का उन्हें खयाल है। बच्चों से विनीता को चिढ़ नहीं। उसने भी पति की जीवन-धारा में अपनी नाव डाल दी। वह भी बच्चों से मलती, उन्हें खिलाती - पिलाती, खेलाती, नहला-धुला कर कपड़े पहनाती। कपाल पर टीका कर देती, गालों में हेजलिन

और कपड़ों में इवनिंग पेरिस के छींटे। तमाम मुहल्ले में इस दम्पति के गुणों के गीत गाये जाने लगे। लोग इन्हें देवता ही मानते। मगर विनीता ने देखा, पति को उसके इस सहयोग के लिये न तो खुशी है, न गम। साँझ-सवेरा बच्चों के बहलाव में निकल जाता और रात जाने क्या लिखते बीत जाया करती। बेचारी विनीता लिखने-पढ़ने की क्या जाने? वह पति के सोने तक जागती, उनके खा चुकने तक भूखी रहती, उनकी सेवा को आतुर रहती। मगर पति को इन बातों की जरूरत नहीं थी। हर बात में उनकी एक ही बात थी—आह, तकलीफ क्यों करती हो!

विनीता ने खाट पकड़ी। पहले दिन तो पति को इसका पता भी न रहा। रोज को तरह वे बाहर ही रहे और राजा से खेलते रहे। राजा सामने के पंजाबी परिवार का लड़का था—चाँद का टुकड़ा-सा, गोरा चिट्टा रंग, लट्टू-सा चंचल, शरारती आँखें। देखते ही प्यार करने को जी चाहता। विनीता खुद अपने को भी उसे प्यार करने से नहीं रोक पाती। उसे रोज वह सजाती और उसी से खेलकर मन की खाली जगह भरती। किंतु आज जैसे उसे चिढ़ हुई है। उसने अंदर से उसकी किलकारी सुनी और उसे लगा, उसके अतर में कोई घड़ियाल बजा रहा हो। सोचते-सोचते उसका बुखार और तेज हो गया। दूसरे दिन पति ने देखा। दवा-दारू और सेवा-सुश्रूषा की। कई दिनों के बाद विनीता भली चंगी होगयी। अब वह अधिक

गंभीर हो गयी, किंतु किसी को इसका ज्ञान भी न होने दिया।

आज शाम को पति लौटे, तो उनके मन में उल्लास था। उनकी वह पुस्तक, जो मनोविज्ञान की दुनिया में हलचल उपस्थित करने वाली थी, छपकर आ गयी थी। हाथ में नयी किताब और मन में आनद का मेला लिये वे आ रहे थे। विनीता कितनी खुश होगी, जब वह सुनेगी कि उसके पति ने दुनिया में एक महत्त्वपूर्ण काम किया है और केवल इसी एक किताब पर वे जगत् में युग-युग तक जीवित रह जायेंगे। यह पुस्तक बाल-मनोविज्ञान पर थी। इसी के लिए आज तक उनकी तपस्या चल रही थी। आज उनकी साधना रूप पा चुकी थी। कितनी ही बात विनीता को वे कहनेवाले थे। मन आनंद से बाहर उबलता आ रहा था। आते ही उन्होंने हर्षोत्फुल्ल स्वर से विनीता को पुकारा—जवाब नहीं। तेजी से वे अन्दर गये। देखा, विनीता राजा की गर्दन दोनों हाथों से पकड़े हुए है। उसकी आँखों में कैसा तो एक हिंसक भाव नाच रहा है। कातर होकर वे झपटे और पुकारा—विनू ....विनू ?

विनू नीरव, निस्पंद। उसने राजा को छोड़ दिया। राजा का निर्जीव शरीर धरती पर गिर पड़ा। विनीता की आँखें स्थिर थीं और चमक रही थीं।

पति के हाथ से किताब छूट कर गिर पड़ी। वे खड़े ही रहे, मानो शिराओं का खून जम गया, पहलू से दिल निकल गया।

विनीता की आँखें उसी तरह स्थिर थीं, किन्तु अब चमक की जगह उनमें समुद्र लहरा रहा था। अन्धकार धीरे-धीरे उतर रहा था। बाहर चिड़ियाँ दिन भर की उड़ान के बाद पेड़ों पर चहकती हुई बसेरा ले रही थीं। बाहर की बत्ती जल चुकी थी। पति ने सूनी आँखों देखा, उसके नीचे अन्धेरा था, चारों ओर प्रकाश।

अनावश्यक

एक किस्सा था, वह भी खत्म हो गया। यों किस्से से जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध नहीं होता, पर इससे मेरा थोड़ा-थोड़ा सम्बन्ध था। जब तक वह किस्सा चलता रहा, किस्सा ही रहा। आज जब वह खत्म हो गया है, तो इतिहास बन बैठा। तब मेरे लिये वह अनावश्यक ही तो था। और आज लगता है, उसकी आवश्यकता थी। सुनिये।

सुबह की चाय पी रहा था। सुबह के मानी आठ बजे। आठ से पहले मैं नहीं जाग सकता। बड़े लोगों के समान मेरा यह अनियम आराम-तलबी का नमूना नहीं, यह मेरी लाचारी है। नौ-दस बजे से काम की चक्की में जो पिसता हूँ, सो रात के डेढ़-दो बजे ही कहीं छुट्टी मिल पाती है। मुझसे तो इक्के के घोड़े और रिक्शावाले खुशनसीब हैं। मेरे साफ कपड़े ही मुझे छलते है कि मेरी दीनता पर लोगों की सहानुभूति भी नहीं जग पाती।

चाय पी रहा था। जिनके बाल बच्चे हैं और जो मेरी स्थिति के हैं, ऐसे लोग इन दिनों काच के पिर्च प्याले नहीं रख पाते। आया नहीं कि बच्चे ने दे मारा। और आज दिन तो ये ईमान से भी ज्यादा मँहगे हैं। पानी पीने के ग्लास में ही चाय चल रही थी और सिर्फ चाय ही। मक्खन का

तो मैं सिर्फ सपना ही देखा करता हूँ। मामूली नाश्ते का जो माहवारी खर्च हो सकता है, लगभग उतनी ही तो मेरी मास भर की कमाई होती है। उसी में भोजन और दूसरी जरूरतें चलाता हूँ। चलाता हूँ इसलिये कहा क्योंकि इतने से सब कुछ चल तो नहीं सकता। पर यही समझिये कि चलाता हूँ।

चाय का एक प्याला दिन के बारह बजे तक तो खुशी-खुशी भूख पर पहरा दे लेता है। मन भर खाकर भी गामा जीवन का जितना आदेश पाल सकता है, मैं एक प्याले चाय पर उससे शायद ही कम पालता होऊँ। और आज वह चाय भी अच्छी नहीं बनी थी। बीवी नयी हैं। बाप के घर आँखों पर रहीं, हाथोंहाथ पलीं। चूल्हा-चक्की के दर्शन और झाड़ू से दोस्ती यहीं आकर हुई। बेचारी हैं तो मेरी बीवी, मगर यहाँ तो उन्हें मेरी बिटिया की माँ, और घर की नौक-रानी और महाराजिन भी बन जाना पड़ा है। मैं चाय की शिकायत न कर सका। इतने में मुंसिफ साहब आ गये। गुसलखाने में कोई औरत हो कि मर्द पहुँच जाय—कुछ ऐसी ही दशा हो गयी। सादगी के आदर्श और गरीबी पर गर्व के उपदेश तो मैं देता हूँ, मगर मुंसिफ साहब के सामने ग्लास में चाय पीते हुए ऐसा लगा, जैसा कोई गुनाह करते हुए पकड़ा गया।

सम्हलना पड़ा। ओ.....आप..मिन्नी बेटा, मुंसिफ साहब के लिए चाय ले आ।

चार-पाँच साल की मिन्नी, मेरा मुँह देखकर अंदर को दौड़ चली। लड़ाई ने आकर नौकर नहीं रखने को समाज में अपराध नहीं रहने दिया है। मैं खुद एक ऐसा नौकर हूँ कि कभी किसी नौकर का मालिक नहीं बन पाता। किंतु कुछ लोग यदि इस धोखे में रह लें कि नौकरों की मँहगी है, तो क्या बेजा? मेरी मिन्नी ही मेरी घर-गिरस्ती में माँ के आगे-पीछे रहती है।

मुंसिफ साहब अंग्रेजी पुशाक में थे। कुर्सी न रहने से जैसे तैसे दरी पर बैठते हुए बोले—तकल्लुफ क्यों करते हैं, चाय तो मैं पीता नहीं। ओ…मैंने पुकार कर कहा—मिन्ना, रहने दे बेटा, मुंसिफ साहब चाय नहीं पीते।

अंदर से खुशी हुई! कहीं चाय पीते होते, तो पीने को चाय नहीं होती शायद। उनकी आदत ने गरीब का बड़ा उपकार किया।

मैने पूछा—आज्ञा…

—अजी, आज्ञा-वाज्ञा क्या, एक आग्रह है और यह आप को करना ही है। रेवा अब आपसे ही पढ़ेगी। मैंने लाख कहा, बेटी, वे किसी को पढ़ाते नहीं, मगर वह मानने को नहीं।

कोई किशोरी अगर किसी को युधिष्ठिर मान बैठे, तो उसे देशी-विदेशी किसी भी विद्यालय की डिग्री नहीं चाहिये। बात तो गर्व करने की थी, पर मैं जैसे कुछ चिन्ता में पड़ गया।

मुंसिफ साहब बोले—मैं जानता हूँ, आपके पास समय की कमी है। पर आपके सिवा मैं किसी को अपना भी तो नहीं पाता। बारहाँ ढूँढ़ा किया कि कोई योग्य और सच्चरित्र शिक्षक मिल जाय। न मिला। सयानी लड़की की बात है, जिसको-तिसको रक्खा भी तो नहीं जा सकता। कुछ ही महीनों की तो बात है ......समय बर्बाद हो रहा है उसका।

मुंसिफ साहब कह रहे हैं और मुझसे। मैं क्या कहूँ, मौन हो गया। कल होकर मैं उनके यहाँ गया। मुंसिफ साहब मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने कदम रक्खा ही था कि उन्होंने पुकारा—रेवा, मास्टर जी आ गये बेटा।

वह भी जैसे इसी को तैयार हो। दूसरे ही दम आ पहुँची। हाथ बाँध कर उसने ललाट पर रक्खा। हल्का हँसी और नमस्ते कहा। मैंने प्रतिनमस्कार किया।

उसका आज का नमस्ते कुछ नया-सा था। इसके पहले बहुत बार मैं यहाँ आया-गया हूँ, नमस्ते की लेन-देन होती रही है। आज का नमस्ते पिछले दिनों की तरह पलायनवादी नहीं, प्रगतिशील था।

मुंसिफ साहब उठ खड़े हुए। अच्छा, अब तुम समय और रूटीन ठीक कर लो, मैं तब तक चाय भिजवाता हूँ। बैठो, अब तो तुम्हारे मन की ही रही ...

वे चले गये। रेवा पास आकर बैठ गयी। मैंने कहा—बही निकालो और सब किताबें भी ले आओ। रूटीन बना ली जाय।

—रूटीन तो मास्टर जी, बनती रहेगी। पहले यह बताइये कि बाजी किसकी रही ?

—बाजी ? बाजी किस बात की ? मैंने कोई शर्त तो बदी नहीं।

—शर्त नहीं बदी, मगर जिद तो थी आपकी कि मैं नहीं पढ़ाता। मगर मैंने तो आपसे पढ़ने का तै ही कर लिया था। होकर रही न !

उसने हँस दिया। शोख आँखों में शरारत छलक आयी। मैं बोला—जीत-हार की जाने दो। रूटीन बनाओ। बातों के लिए मेरे पास समय नहीं।

वह बोली—अच्छा तो मैं बात नहीं करती। लीजिये।

वह उठकर गयी। कापियाँ और किताबें ले आयी। मेरे सामने उन्हें बिखेर कर मेज पर दोनों केहुनियाँ गाड़ कर, दोनों हथेलियों पर गाल रख कर बैठ गयी।

मैंने उलट-पुलट कर कुछ किताबों को रक्खा। बोला—सोमवार को तो अंग्रेजी कविता और भूगोल रक्खो। क्यों ?

....

—हिन्दी और इतिहास भी रख सकती हो।

....

—बोलती क्यों नहीं, आखिर तुम्हारी पसंद क्या है ?

—मैं क्या कहूँ, आपने तो कहा कि बातों के लिये समय नहीं।

—मगर यह बात कहाँ है, यह तो काम की बात है। इसे तो करना ही है।

—ओ, तो जब जो जी में आये, रख दीजिये। मेरे पास तो बारहो मास, तीसो दिन ये सारी ही किताबें रहा करती हैं।

दिल्लगी की बात होते हुए भी वह दार्शनिक की तरह गंभीर बनी रही। मैंने देखा और अपने मन से रूटीन बनाता रहा। बना गया। उसकी ओर बढ़ाते हुए आदेश के स्वर में बोला—कल से इसी के अनुसार काम करना है। तैयार रहना।

इतने में चाय आ गयी। रेवा ने आग्रह से मेज पर ट्रे को रक्खा और खुद चाय बनाते हुई बोली—कल से देखा जायगा। आज अब चाय पी लीजिये।

दाई किवाड़ के पास खड़ी थी। मुझसे बोली—साहब ने कहा है, जाते समय उन से मिल लें।

मेरी ओर से रेवा ही बोल उठी—अच्छा-अच्छा। अभी जाते कहाँ हैं। तू तो कृपा कर। सर पर खड़ी है।

दाई ऐसी बातों से अभ्यस्त थी। विना किसी असंतोष का भाव चेहरे पर लाये पंक्ति के किसी कामा-सी हट गयी।

मैंने चाय का प्याला रेवा के हाथ से ले लिया। पीने लगा। उसने याद दिलायी—और यह नमकीन ?

खाने की इच्छा नहीं थी। पर अनजानते ही मेरे मुँह से निकल गया—ओहो, यह तो भूल ही गया था।

झट वह बोली—'जवाब' तस्वीर के बोरुआ की तरह आपके लिये एक अभिभाविका चाहिये, जो आपको हर बात की याद दिलाया करे। और उसने नमकीन मेरी ओर बढ़ाया। मैंने आज्ञाकारी बालक की तरह नमकीन उसके हाथ से ली। दवा की तरह उसे खा भी गया। रूमाल से हाथ पोंछ कर उठ खड़े होते ही उसने कहा—तो कल कितने बजे ?

उसकी आँखों में कुछ पढ़ता-सा मैं बोल उठा—'यह तो कल घड़ी बतायगी और निकल पड़ा। मुंसिफ साहब को समय, कार्यक्रम आदि बता दिया। चलते-चलते उन्होंने रोज वहीं नाश्ता कर लेने का आग्रह किया। ना - नू करता हुआ मैं निकल आया।

मैंने कहा—दुनिया गोल है।

—जी, मैं जानती हूँ। यह तो पाँचवीं से ही पढ़ रही हूँ। मगर अब सोचती हूँ, पृथ्वी को लोग नारंगी जैसी गोल क्यों कहते हैं ? नारंगी तो अचल है। दुनियाँ कौए की आँख-सी घूमती है।

—हर बात में दिल्लगी ? चपत जड़ दूँगा।

—'लीजिये'—और उसने गाल मेरी ओर बढ़ा दिया। सत्याग्रह ने आखिरी हथियार को भी बेकार कर दिया। मैंने

'मुंडमाल' को उठाया। —शिवपूजन जी भाषा के कुशल मालाकार हैं। मगर आज की हिन्दी से वे ५० साल पुराने पड़ गये। हाड़ा रानी के चरित्र को उन्होंने खूब खिलाया है। यह त्याग, बलिदान और वीरता भारतीय नारी में ही संभव है।

—जी हाँ, इसीलिये भारतीय नारी के पल्ले और कुछ नहीं पड़ता। पुरुष - पौधे के विकास के लिये नारी बेचारी कलम लग जाती है।

—उसी के अनमोल फल पाकर संसार धन्य है, यह तुम्हें मानना होगा।

—मेरे गाँव में एक धनी थे। रात को वे खुद पलंग पर न सोकर पलंग को अपने ऊपर लाद लेते थे। कहते थे, आकाश कहीं टूट पड़ा, तो पलंग पर थम जायगा। भारत के पुरुष इन्हीं बातों से तो औरतों से इतनी बड़ी आत्म प्रवंचना करा लेते हैं।

—तुम्हारी खोपड़ी में भूसा भर गया है। जो त्याग जीवन को सोना बनाता है, तुम उसी को आत्म प्रवंचना कहती हो ?

—आत्म गौरव कहना चाहते हैं आप ? जिस दिये के जलाने से पतिंगा का प्रेम प्रतिष्ठित होता है, उस दिये के आत्म-बलिदान को निंदा ही मिलती है। मास्टर जी, अब तो उल्टी गंगा बहेगी, मर्दों का जमाना गया।

— गया तो गया। तुम अपनी पढ़ाई करो। इन तर्कों में क्या धरा है ?

—तर्क से ही तो ज्ञान बढ़ता है। तोते की तरह पोथे रटना तो मुझसे नहीं हो सकता। आप खातिर जमा रक्खें, फेल होकर आपकी नाक न कटा दूँगी।

—अच्छा बाबा, जो जी में आये, करो। मैं अभी जाता हूँ।

मैं उठ खड़ा हुआ। रेवा ने मेरा हाथ पकड़ लिया और आँखों में एक अजीब आकुलता भर कर बोली—आप नाराज हो गये ?

—नहीं तो। मगर खुश नहीं हो सका।

रेवा ने मेरा हाथ पकड़ कर अपने गाल पर मारा। —अब तो सजा मिल गयी। खुश हो गये ? कल से अब पढ़ूँगी ही केवल।

मैंने उसके हाथ को हलके सहला दिया। —'पागल !' मेरी आँखों मे क्या लिखा गया, पता नहीं। डायरी की तरह अपनी आँखों को साथ लिये मैं चला आया। रेवा द्वार तक आकर उम्मीद-सी लौट गयी।

आज नींद नहीं आ रही थी। मिन्नी की माँ ने कई मार्के की दिल्लगी की। कुछ जमा नहीं। मैंने खीझ कर कहा—भई, तुम तो सारा गुड़ गोबर किये देती हो। एक अच्छी-सी कविता की पंक्ति आ रही है। छेड़ो मत।

—मैं समझ रही थी कि सरकार ही आँखों में आ बैठी है। अब 'भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाहिं!'

रात भर रेवा की वे आँखें याद आती रहीं, जो कुछ जवाब चाहती थीं। रात भर अपने निश्चय को दृढ़ करता रहा कि कल उसे अपने मन की जरूर कहूँगा। लेकिन कल जब रेवा को पढ़ाने गया, तो कहने की बात कहने से रह गयी। वह कहीं जाने को तैयार थी। मेरन की एक छपी साड़ी पहन रखी थी उसने, खद्दर की छींट का ब्लाउज़, पीठ पर साँप की दुम-सी फिसलती वेणी। आँजी हुई आँखों में चुल-बुलापन, जैसे कामायनी का लज्जा खड़ी हो गयी हो। मेरे पैरों की आहट पाते ही वह दौड़ कर आयी—आप ही की तो राह देख रही थी। आज तस्वीर देखने जाना है। बाबूजी आपके ही साथ जाने को कह गये हैं।

मैं कुछ क्षुब्ध-सा हो गया। —बाबू जी ने ही तुम्हारा दिमाग खराब कर दिया है। यह सिनेमा कौन बड़ी आदर्श वस्तु है। तुम्हें जाना हो जाओ। मैं तुम्हारे साथ-साथ कहाँ-कहाँ डोलता चलूँगा। मैं चला।

लड़ पड़ने का स्वभाव उसका था। पर आज वह लड़ी नहीं। सिनेमा के बदलते दृश्य के मुहूर्त के समान उसकी आँखों में उदासी आयी और लौट गयी। बोली—तो आप जाने क्यों लगे? पढ़ायेंगे भी नहीं। आप नहीं चाहते, तो मैं सिनेमा नहीं जाती।

वह कमरे में गयी और मेज ठीक करने लगी। मैं बाहर खड़ा ही रहा। कुछ क्षण के बाद उसने पुकार कर कहा—आप खड़े हैं? पढ़ाना भी नहीं है?

मैंने कहा—आज अब पढ़ना-पढ़ाना छोड़ो। चलो, सिनेमा ही देख आयें।

थोड़ी देर के हाँ-ना के बाद हम सिनेमा चले गये।

रेवा को पढ़ाते चार-पाँच महीने हो गये। रोज ही मैं निश्चय करके जाता कि आज तो उससे मन की कहूँ हीगा। और रोज ही मन की मन ही लिये लौट आता। वह जैसे कुछ उत्तर की प्रतीक्षा करती, मैं जैसे कुछ कहने का इंतजार करता। और समय दोनों के बीच में एक बड़े डैश-सा पड़ा रह जाता।

लोग कहते हैं कि जिन्दगी एक कहानी है। होगी। मैं भी ऐसा ही समझता था। मगर लगता है, जिन्दगी खुद कहानी नहीं, जिन्दगी की कहानी हो सकती है। कहानियों में ऐसी स्थिति होती, तो दो दिलों की बेकली एक आराम का रूप लेती। सिनेमा के खेल होते, तो प्रेमाभिनय चरम पर पहुँच गया होता। लेकिन हम हैं कि पास हैं और दूर हैं, अपने हैं और पराये हैं। दो किनारों में धारा एक ही बहती है, पर एक ही धारा के दो किनारे हैं। कहानी और जीवन की कहानी में कितना अन्तर है!

आज मैं फिर बम की तरह भर कर पहुँचा। चिनगारी मिली नहीं कि फूटा। रेवा ने आज नये कपड़े पहन रखे थे।

जाते ही कहा—आज आपका खाना यहीं है। मेरा जन्म-दिन है।

मैंने कहा—भगवान् करे, तुम्हारा मरण का दिन दिल्ली की तरह सदा दूर ही रहे।

—केवल आशीर्वाद देकर ही ठगना चाहते हैं। मैं तो किसी उपहार की उम्मीद करती थी।

—तो नाउम्मीदी तुरत कैसे हो गयी ? तुम तो जानती ही हो, हार मेरी सब दिन से है, बस केवल एक 'उप' ही तो कहीं से ढूढ़ाँ लाना है। कहीं मांगे मिल जायगा।

—बातों में तो कोई आपको जीतने से रहा।

—यही तो अपना दुर्भाग्य है। लोग बाजी जीतते हैं, मैं जीतता हूँ बात, सिर्फ बात। मैं औरों के लिए ही सदा बाग लगाता हूँ।

—यह तो आदर्श पुरुष का काम ही है।

—इस आदर्श से तो मैं लुट गया, इस कंबख्त ने मुझे पत्थर बना दिया, पत्थर। अब तो कोई यह भी नहीं समझता कि मैं आदमी हूँ, मेरे भी कलेजा है। तुम्हारे बाबू जी ने युधिष्ठिर बना कर मुझे परीक्षार्थी बनाया है, तुमने आदर्श का परिधान पिन्हा कर मुझे मूरत बनाना चाहा है। निर्मम भाग्य का मारा मै।

रेवा ने क्या समझा, मैं समझ नहीं सका। अंदर से आवाज आयी—रेवा, मास्टर जी के लिये थाल भिजवाऊँ ?

रेवा ने पूछा—मास्टर जी, भोजन तैयार है, मँगवाऊँ ?

मैंने कह दिया—मँगवा लो।

रेवा ने बड़े जतन से, और-और के आग्रह से, अपनी कसम दे कर, यानी तरह-तरह से मुझे भरपूर भोजन कराया। मैं लौट आया।

दूसरे दिन फिर पढ़ाने गया। बकाया उपहार भी लेता गया। नाचीज-सी ही एक जीच थी। सुन कर क्या करना। भाव को चीज से घटा दीजिये, तो कूड़ा बन जाय। रेवा ने लेकर कहा—जतन से रक्खूंगी इसे।

मैंने कहा—आखिर कौन-सा रतन है यह ?

वह हँसकर बोली—रतन का कुछ न कुछ मोल तो होता ही है, आपकी दी हुई चीज अनमोल है। हाँ, आपने सुना, हम घर जा रहे है। बाबूजी की बदली हो गयी। कल रात को। आप स्टेशन तक चलेंगे न ?

मैं अधूरी बात की तरह निरर्थक रह गया। रेवा मुझे पढ़ न ले, इसलिये मैंने आँखों में कुछ लिखा नहीं। मैंने कहा—स्टेशन तक जाना ही होगा, आखिर मंजिल तक मुझे साथ थोड़े ही चलना है। खैर। आज तो फुर्सत दो। कुछ जरूरी काम हैं।

काम-धाम हकीकत में कुछ था नहीं, मगर अब वहाँ मन का पर्दा खुल रहा था। रेवा की किसी बात की पर्वा किये विना मैं लौट आया। दूसरे दिन रेवा मिन्नी की माँ

से भेंट करने आयी थी। कौन जाने उसे मिन्नी के बाप से कुछ कहना नहीं था! मैं था नहीं, सो वह बात अब विचार से बाहर ही रही।

रेवा चली गयी। स्टेशन पर मैं उनलोगों से मिला था। रेवा से मैं दूर ही दूर रहना चाह रहा था। चोर की तरह आज तक मैं जो कहने से रहा, आज वह चोरी खुल क्यों जाय! गाड़ी खुलने को कुछ मिनट रह गये तो रेवा ने मुझे पास बुलाया। गाड़ी की खिड़की पर ठुड्डी रखकर वह बाहर को झुकी थी। मैं नीचे सामने खड़ा हो गया। दोनों मौन। गोया कोई अपराध बन गया हो। आज तक अपने हर व्यवहार में वह बड़ी स्पष्ट और ढीठ रही थी। अभी उसने चालाक आँखों से घर के और लोगों की ओर देख-लिया और चुपके-चुपके कहा—मेरी याद करेंगे कभी? मैं बड़ी दुष्ट हूँ न?

उसकी स्वाभाविक हठधर्मिता और चंचलता आज आँखों में गल गयी।

रेवा ने जाते-जाते मर्द की तरह हिम्मत की, मैं स्त्री की तरह आँखों में आँसू भर लाया। कहा—मूरत तो बनाये जा रही हो, याद कौन करेगा? भूल नहीं सकेगा, यह मूरत की विवशता है, जानती जाओ।

गाड़ी चली गयी।

उपन्यास के पात्र और सिनेमा के नायक की तरह फिर रेवा के दर्शन हो ही जायँगे, यह विश्वास तो नहीं। मगर इस बार यदि वह कहीं मिल गयी, तो यह कहूँगा कि मैं वह कह नहीं सका, जो कहना था। भाग्य की तरह मैं अलक्षित रहा, तुम पढ़ नहीं सकी।

मुंसिफ साहब ने बधाई भेजी है, रेवा खूब अच्छे नम्बर से पास कर गयी है! मैं उन्हें क्या लिखूँ। पास कराने वाला ही बुरी तरह फेल हो गया।

चिरंतन

सड़क कभी अच्छी रही होगी। मगर आज तो बेचारी का बुरा हाल है। धूल कुछ तो गर्मी की लू ले गयी, कुछ बारिश की बुँदे। अब जीवन-संग्राम में थके हुए बूढ़े सैनिक की तरह कंकाल ही सार है। म्युनिसिपैलिटी के शासन के प्रताप ने कभी जिन पत्थरों को दुर्दम रोलर से दबा दिया था, आज परस्पर कंधा मिलाकर सब के सब जैसे आकाश की ओर उठते आ रहे हैं। दबाव उन्हें मंजूर नहीं। कुदरत के सदा-बरत से बँटने वाली धूप, हवा, पानी के वे बराबर हकदार हैं। और, दासों की तीव्र आकांक्षा ऊपर चलने वाले चरण-कमल में चुभने लगी है।

खैर। उसी सड़क पर अलग आ बैठा एक कंकड़। उसने मन में सोचा, प्रतिभा उसी का नाम है, जो लकीर न पीट कर अपनी अलग राह बनावे, जिस चरण-चिह्न पर पीछे की दुनियाँ मंजिल का रूप देखे।

एक विद्यार्थी स्कूल से लौट रहा था। छुट्टी के बाद मुक्ति का आनंद और बचपन-सुलभ चंचलता। उसने कंकड़ पर एक ठोकर मारी। और, फिर-फिर ठोकर लगाता गया फुट-बॉल की तरह। अपने खयाल में उसे छोड़कर वह अपनी राह लगा। कंकड़ कहाँ का कहाँ जा रहा। उसने सोचा, बस

यही तो जीवन है। आज यहाँ, कल वहाँ और परसों वहाँ। ठोकरें ही जीवन-निर्माण की निधि हैं। लाजिम इतना ही है कि हर कहीं जीवन अपने अस्तित्व को कायम रक्खे।

दिन की रोशनी खत्म हो गयी। जिस जादूगर ने उसे बिछाया था, वही उसे समेट कर चलता हुआ। जहाँ-तहाँ दीये जल उठे। कंकड़ अंधकार में आसमान की दीवाली देखता रहा। एक कोई आ रहा था। अकेला ही था। कौन था, यह तो शायद भगवान भी न बतायें। इस आदमी नाम-धारी जीव की पूरी पहचान भगवान को भी नहीं। भगवान ने एक ही बार तो इसे बनाया और अब यह घड़ी-घड़ी भगवान को बनाता-बिगाड़ता रहता है। बच्चों का घरौंदा ही बना दिया समझो। हो सकता है, वह आदमी सिनेमा से लौट रहा हो या उस बाजार से, जहाँ दो घड़ी के लिये प्रेम-किराये पर मिल जाता है। और यही क्या पता कि वह चोर ही न हो! पूछने से तो जरूर कह देगा कि बच्चा मर रहा है, डाक्टर के यहाँ से आ रहा हूँ। यहाँ तो कानून से द्वार को जितना बंद करो, ईमान के भागने की उससे दूनी राह बनती है। कुत्ते ने लेकिन उस आदमी को डाँटा। कुत्ता आदमी से ज्यादा इस बात को समझता है कि ऐसे वक्त राह चलना नियम नहीं है।

आदमी ने अंधकार में टटोला और भाग्य से वही रोड़ा, जो यह सब देख-सुन रहा था, हाथ आ गया। लड़खड़ाते ईमान को आधार मिला, सच्चाई को आघात। आदमी ने

कंकड़ उठा कर दे मारा। कुत्ता नौ दो ग्यारह हो गया, आदमी अंधकार में विलीन। मगर कंकड़ की तकदीर उसे और कहीं ले गयी। वह बगल के मकान की खिड़की पर लगा। किसी के दिल-सा काच चूर हो गया और हजरत कंकड़ अंदर दाखिल हो गये। एक गुदगुदे बिछावन पर उसे जगह मिल गयी। कंकड़ ने संतोष की सांस ली। सुख के चारों ओर ऊँची दीवारें हैं, अंधकार है, कांटे हैं और बहुत कुछ है। इन सब को झेलकर ही सुख को पाया जा सकता है। जीत तो संघर्ष के बाद। जीवन में पुरुषार्थ चाहिए।

कंकड़ ने देखा, बेचारी खिड़की रो रही है। उसने गर्व से कहा—सुनो, किसी की राह रोकने का यही नतीजा होता है। नये पत्तों के लिये पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, नये जीवन को राह देने के लिये बूढ़ी जिंदगी मर जाती है। बढ़ने वालों की राह से सदा दूर रहो, उन्हें रास्ता दो या आँधी और बाढ़ के आगे बेत की तरह झुकना सीखो, वरना सीना तानोगे, तो उखड़ जाओगे। यही राजनीति है।

खिड़की ने कहा—भाड़ में जाय तुम्हारी राजनीति, जो किसी को लूटकर किसी को बसाती है। मुझे तोड़ कर तुम बने, यह नियम हो सकता है, धर्म नहीं। हमें तो धर्म चाहिये जो समदरसी हो, जो दुनिया को एक करने का प्रयासी हो।

कंकड़ ने मौन साध लिया। काम की बात ही असल में बात है। फिजूल क्यों बोला जाय। और जबान भी किस-किस की बंद की जाय। सबका अपना-अपना राग है।

और, इतने में एक युवती कमरे में आयी। मांग में सुहाग का सिंदूर, शरीर में, अंग-अंग में ईश्वरीय वरदान का ऐश्वर्य, आँखों में प्यास की मदिरा। कमरे में एक जीवन-सा आ गया। वह किसी की प्रतीक्षा में थी। इतने में एक हँस-मुख जवान कमरे में आ गया। अब कमरा आलोक जागरण और जीवन तीनों से भर गया। वे उसी बिछावन पर आये युवती की नजर कंकड़ पर पड़ी। अपनी राह में रोड़ा कोई क्यों पसन्द करे? सो उसने कंकड़ को उठाकर फेंक दिया।

कंकड़ फिर उन्हीं पत्थरों में जा रहा। दुनिया गोल है। पहले वह जीवित था, फिर ज्ञानी बना और अब विवेकी बन गया। दूसरे पत्थरों ने प्रवास से आने पर उसकी आवभगत की, बहुतों ने जो-सो भी कहा। पत्थर ने ज्ञानवृद्ध शुकदेव के समान छोटे-बड़े सबके बीच में कहा—बिंदु एक ही है, उसी से आदि, उसी में अवसान। गति और गंतव्य एक है, बाकी सब भ्रम।

मोह का बन्धन

एक पहर रात की सूचना देकर स्यारों का समुदाय सुन्न घसीट गया और ठाकुरबाड़ी की पूजारति की शंख - घंटा-ध्वनि अनन्त नीरवता की अंकशायिनी हुई। तारे खचित नीलाम्बर की छाया में श्रान्त-क्लान्त संसार एक स्वर्गीय शान्ति का अनुभव कर रहा था। किन्तु नुनकी की चंचलता अब भी उमानाथ के नाकों दम किये थी। बँगले पर चिन्ता-गम्भीर की नाईं वह हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। बगल की ताक पर एक चिराग मन्द-मन्द जल रहा था और नुनकी प्रश्नों की बौछार करती हुई कभी उसकी पीठ, कभी कन्धे और कभी गोद पर लदी-सी पड़ती थी।

उमानाथ ने कहा—बस, तुम्हारी यही आदत तो हमें पसन्द नहीं आती, आग गिरे तो एक घड़ी में जल जाओगी।

'तो तुम कहते क्यों नहीं कि उसके बाद उस गरीब ब्राह्मण का क्या हुआ ?'—नुनकी ने अपनी उज्ज्वल आँखें उमानाथ पर निक्षेप कीं। क्षीण दीपालोक में उसके मुखमण्डल पर सरल चंचलता पानी पर मछली की तरह तैरती हुई दिखाई दी।

इस बार उमानाथ के मन की गाँठ बरबस खुल गई। उसने कहा,—तुम्हारे ससुर का मैंने कुछ ले थोड़े ही रक्खा है

कि जो हुक्म दो, वही बजाऊँ ? तुम मजे में दिन भर सो लेती हो, मैं रात भर तुम्हें कहानी सुनाता रहूँ, क्यों ?

पुरखिन की तरह नुनकी बोली—न कहोगे तो मेरा क्या, आधी कहानी कहने से कल तुम्हारा ही आधा सिर दुखेगा।

आनन्द-पलकित कंठ से उमानाथ ने कहा, सबेरे पूरी कर दूँगा। रात बहुत बड़ी हो गई, घर-घर सभी सो गये।

—'मगर दिन में कहानी कहने से सास कानी होगी।'

उमानाथ खिलखिला कर हँस पड़ा और बोला, मेरा अब कैसी सास, होगी भी तो तुम्हारी !

—अच्छा होगी तो होगी, तुम कहानी कहो।

उमानाथ की बहानेबाजी और आगे न बढ़ सकी। हुक्के को कोने में सटा कर रखते हुए उसने कहना आरम्भ किया, इस बार महादेव ने तीसरी झोली देते हुए ब्राह्मण से कहा, इसमें थप्पड़ और मुक्के हैं। तुम्हारे सिवा जो कोई इसे झाड़ेगा, मारे थप्पड़ और मुक्कों के उसके छठी का दूध उबल पड़ेगा। बाह्मण झोली लेकर अपने उसी मित्र के यहाँ दाखिल हुआ जहाँ उसकी अन्य दो झोलियाँ गायब हुई थीं, रुपये और रसगुल्ले की।

'उसके बाद ?'—नुनकी ने उत्सुक होकर पूछा।

'उसके बाद ब्राह्मण उसी दम नहाने को चल पड़ा। मित्र की स्त्री ने अनुमान किया कि हो न हो आज की झोली तो पहली दोनों से जरूर अच्छी होगी और उसने झोली को झाड़ा। गजब हो गया, चपाचप चपत और धमाधम मुक्के

पड़ने लगे। बेहिसाब, बेशुमार। कहाँ से, किधर से, कैसे, पता नहीं। एक ओर बाप-बाप और दूसरी ओर धमाधम।

नुनकी हँस कर लहालोट हो जाने लगी।

नुनकी और उमानाथ की दिनचर्या का यह एक अनिवार्य अंश था। जगह-जमीन, बाग-बगीचे की देख-भाल कर सन्ध्या के उपरान्त उमानाथ जब घर लौटता, तो नुनकी को वह द्वार अगोरे बैठी हुई पाता। दूर में उसे देख कर ही नुनकी चिलम चढ़ाने लग जाती, एक लोटा पानी ले जाती। उमानाथ बाहर से हाथ लगाये उसके लिए कुछ लाता ही लाता। नुनकी अपने बड़े बाबू से महज मामूली वस्तु पाकर भी इतनी आनन्दित होती मानो स्वर्ग की निधि मिल गई। उसकी प्रसन्नता पर उमानाथ भी निहाल हो जाता।

नुनकी पर उमानाथ का असीम प्यार था और उमानाथ पर नुनकी को असीम श्रद्धा। जब उसका जन्म हुआ था, तो कोई भी व्यक्ति ऐसी उम्मीद न कर सका कि इसके भी भाग्य में दुनियाँ देखना बदा है। इतनी छोटी थी, जैसी काठ की पुतली। चेहरे भर में दिखती थी केवल दो आँखें और नाक। इसके बाद हड्डियों का ढाँचा। ममतामयी माता का भी हृदय दुःख और विरक्ति से भर गया। निराशा से पीला न पड़ा केवल एक व्यक्ति—उमानाथ। भ्रातुष्पुत्री के पालन में उसी की असाधारण सेवा का हाथ रहा है। नुनकी की इस कोमल काया में उमानाथ के हृदय की वह छवि प्रति

विम्बित है, वह अमायिक ममता का स्वरूप प्रतिफलित है कि मातायें भी उस दुर्लभ रत्न के लिये कामना करती हैं।

नुनकी इतनी दुर्बल थी कि दूध खींचने ही में उसका दम अटका करता, रोने का तो विराम नहीं, क्या रात और क्या दिन। माँ विरक्त हो जाती, पर उसे गोद में लेकर भुलाने में उमानाथ में कभी भी विरक्ति के भाव नहीं दिखाई दिये। और आज भी नुनकी के राग-रोष से वह नहीं ऊबता। उसे एक घड़ी न देखने से उसका हृदय रो पड़ता है, उस के सिर-दर्द की बात सुन उसके प्राणों की आ लगती है।

अन्दर से चार बार समय के बैठे न रहने की याद दिलाई गया। उमानाथ ने प्रत्येक बार कहला भेजा, बस आया। किन्तु पाँचवीं बार जब भोजन कर आने की कड़ी ताकीद आई तो वह उठ बैठा।

दिन किसी का एक-सा नहीं जाता, यह संसार का कठोर सत्य है। उमानाथ के भी स्नेह का यह पवित्र अधिकार सांसारिक जटिलताओं से प्रभाव से एक जैसा न रह सका। एकांत अनिच्छा के होते हुए भी उसे अपना संसार अलग कर लेना पड़ा है। जिस समाज की रीति के अनुसार भाई-भाई का संबंध अत्यन्त पावन है, उसी समाज की एक यह भी अनिवार्य नीति है कि परस्पर बनी-बनाव नहीं हो सकता। उमानाथ ने केवल रामायण बांचने और हस्ताक्षर करने की शिक्षा पाई थी। इसके सिवा तम्बाकू पीना, भजन करना, भंग पीना, मुर्दे जलाना, मेड़ बाँधना ही उसके प्रमुख कार्य थे। छोटा भाई

रमानाथ सुशिक्षित व्यक्ति था, मितव्ययी था, अतएव बड़े भाई के ये कृत्य उसे एक बारगी पसन्द नहीं आते थे। फूट की आग कब से उसके अन्तस्तल में घुस रही थी। और वह मौका नहीं पा रहा था। ऐसे निकम्मे से पिंड छुड़ाने में ही वह अपनी बुद्धिमानी समझता था। एक दिन एक अदना-सी बात पर अनर्थ का सूत्रपात हो गया। उमानाथ में एक आदत थी कि वह बहुत अधिक बिगड़ भी जाता था, बहुत जल्द नर्म भी पड़ जाता। रमानाथ को बढ़-बढ़ कर बोलते देख उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। छोटा मुँह, बड़ी बात। मगर जब रमानाथ ने अलग हो जाने के लिये पंचायत बुलायी तो उमानाथ की आँखों में आँसू आ गये। छोटे भाई को उसने बहुत समझाया, क्षमा याचना की, नतीजा एक न निकला। बँटवारा हो गया, बर्त्तन-भांड़े सब। आँगन उसी दम झाऊ की टट्टी से घेर दिया गया। आना-जाना, लेन-देन, बोल-चाल एकबारगी बन्द।

उमानाथ अपनी उन आदतों में किन्तु उसी प्रकार डूबा रहा। चिलम एक घड़ी को भी ठण्ढा नहीं पड़ने पाता, भंग रोज छनती और साथ ही तुनकी की माया भी उससे न भूली जा सकी। आसमान की देह में दिदोरे पड़ते और बँगले पर उसकी आकर्षक आवाज सुनाई पड़ती, जाते-जाते, जाते-जाते, राजकुमार एक अत्यन्त घने जंगल के बीच जा निकले। ऊपर एक टुकड़ा आकाश, चारों ओर पेड़ों की दुर्भेद्य दीवार, और बाघ सिंह का आकाश कँपाने वाला चीत्कार।

उस दिन संध्या का अन्धकार जब धनीभूत हो उठा, तो रमानाथ के द्वार पर उसने धमक दी—तुनकी। और उत्तर की अपेक्षा न करके ही वह अन्दर चला गया। रसोई घर में मिट्टी के तेल का चिराग अनर्गल धुँआ उगल रहा था और घर से प्याज की तीखी गन्ध आ रही थी। आँगन में खड़े खड़े उत्तर की प्रतीक्षा कर लेने के बाद उसने फिर आवाज लगायी—तुनकी। रसोईघर का किवाड़ पकड़ कर बहू ने इस प्रकार कहा, मानो वह किवाड़ से कहला रही हो, कह दो, सो गई है।

देहली पर सखुए के पत्ते का दोन रख कर उमानाथ ने कहा, 'उसे दे देना'—कहते हुए वह लौट आया और बँगले पर मन मारे हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

थोड़ी ही देर बाद तुनकी आ गयी। देखते ही हर्षोत्फुल्ल हो कर कुछ कहने ही वाला था कि तुनकी ने अपने कोमल हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया। उमानाथ का अभिप्राय घुट गया और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ की नाईं तुनकी की ओर स्थिर नेत्रों से ताकने लगा।

दबी जबान में, उसके मुँह के पास मुँह ले जाकर तुनकी ने कहा, अम्मां जान न पाये, नहीं तो मुझे जिन्दा न छोड़ेगी। उसने कहा है यदि मैं तुम्हारे पास आऊँगी, तो वह मुझे जान से मार देगी।

अन्तर की प्रबल आँधी को दबाने का प्रयास करता हुआ उमानाथ खोया-सा बैठा रहा, बोली छिन गई थी।

नुनकी बोली—और तुमने जो गुलाबजामुन का दोना रक्खा था, अम्मा उसे गिनौरे पर रख आई। बोली, बड़े बाबू की कोई भी चीज हरगिज मत खाना। उस दिन कैसा पेट चलने लगा था।

उमानाथ अपने को स्थिर नहीं पा रहा था, इसीलिये कुछ बोलने की चेष्टा उसमें नहीं हो रही थी। इसबार नुनकी की सरलता ने मानों उसके हृदय को बाहर कर दिया, 'तो क्या मैं सचमुच ही तुमसे न मिल पाऊँगी?' आवाज में वेदना का गहरा रंग था।

उमानाथ की आँखों में अचानक आँसू उमड़ आये। उसने मुँह फिरा लिया। देखा कि जिस ताक पर दीया जल रहा था, उसका ऊपरी भाग कालिख से लद गया था।

नुनकी आहिस्ते से उसके कान में कुछ कह कर चोर की नाईं पैर दबाए चली गई। उमानाथ आँसू छिपाने के लिए जिस प्रकार सिर घुमाए था, उसी प्रकार रहा।

सन्ध्या के सन्नाटे में चिड़ियाँ जिस प्रकार दोनों डैनों के बीच मुँह गाड़ लेती हैं, उमानाथ उसी प्रकार दोनों घुटनों के मध्य मुँह रोपकर बँगले पर बैठा था। अचानक खड़ाऊँ की खट् खट् से उसकी निमग्नता पर आघात पहुँचा और वह उठ खड़ा हुआ। गर्मी के दिन थे। रमानाथ बाहर सब्जी पर आरामकुर्सी बिछाकर बैठने की चेष्टा कर रहा था। उमानाथ ने समीप जाकर कहा, रामा, आखिर तो हम एक ही टहनी के दो पत्ते हैं।

वाणी में वेदना की विकलता थी।

रमानाथ इस भूमिका का मर्म ही न जान सका, अतः उससे कुछ उत्तर भी न देते बना।

उमानाथ कहने लगा, मैंने स्वप्न में भी ऐसी आशा न की थी कि तुम ऐसे अहसान फरामोश निकलोगे। और तुम्हारी स्त्री ? आज वह ऐसा भी कह सकती है कि बेटी, तुम बड़े बाबू की दी हुई चीजें हर्गिज मत खाना, क्या ठिकाना, उस दिन उनकी चनाचटपटी खाकर कैसा पेट चलने लगा था ? दुनियाँ में कोई भी क्या विश्वास करने योग्य नहीं रहा ! आज नुनकी को मुझसे मिलने की मुमानियत है। कैसी स्वार्थपरता। अरे मूर्ख, जरा मानस पट पर उन दिनों को भी सूरत देख, नुनकी की यह जीती-जागती तस्वीर किसकी लगन का फल है। कितना भी हो, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। दो रूप, दो दिल है; दो मिजाज हैं, मगर तुम्हारी धमनियों में भी वही रक्त प्रवाहित है, जो मुझमें है। तुम हर सूरत से अलग हो, अलग रह सकते हो, मगर यह रक्त किन वैज्ञानिक प्रक्रियाओं से धोया जायगा ? नीचता के दामन से यों न चिमट जाओ। थोड़ा भी धर्म का भय करो, क्या जवाब दोगे वहाँ ? विज्ञान पृथ्वी, चन्द्रमा और सूरज का आकार तथा अवस्थान ही निर्धारित कर सकता है, उस पर उसकी हुकूमत नहीं। उसपर हुकूमत है धर्म का, धर्म से ही अब तक दुनियाँ टिकी है। मेरा एकमात्र अपनत्व का अधिकार छीनने में तुम्हें संकोच न हुआ, ग्लानि न हुई ? नीच !

रेकर्ड की तरह उमानाथ उगलता गया और रो पड़ा। इस अप्रत्याशित घटना से रमानाथ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो पड़ा था। अचानक उसके मुँह से कोई भी शब्द न निकल सका। हाँ, दिन भर मीजान मिलाने की माथापच्ची के बाद यह घटना उसके धीरज की रक्षा न कर सकी। खिन्न होकर कुछ कहा ही चाहता था कि उमानाथ उसे बोलने का अवसर न देकर ही चला गया। रमानाथ भी भीतर चला गया।

कुछ ही क्षण पश्चात्।

अन्धकार के नीरव अंचल को छेदती हुई रमानाथ की रोष-भरी वाणी सुनाई पड़ी। बस, सारे अनर्थों का मूल यही है, यही। विभीषण का पाठ पढ़ा है। घर में कोई बात हुई नहीं कि पहुँचा आई बड़का बाबू के पास। आज मारे लातों के तुम्हारी हेकड़ी न भूला दो, तो मेरा नाम नहीं। कल की लड़की और शैतानी से तो सड़ गई है। अब देखता हूँ कि कौन तुम्हारी रक्षा करता है।

धमाधम, धमाधम। दो-चार लम्बी और सजल सिसकियाँ। उमानाथ अभी-अभी आकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा था, अनमना-सा, आँखों की पुतलियाँ आँसू से भली तरह निकल भी नहीं सकी थीं, देह में अब भी एक हलका प्रकम्पन था। अचानक मार पड़ने की आवाज पाकर उसके कान व्याधभीत हरिणी की तरह खड़े हो गये। हुक्के को उसने दीवार से लगा दिया।

"आज तेरी ही जान है कि मेरी ही जान"—रमानाथ ने लात लगाते हुए कहा।

'तुम्हारा इरादा क्या है कि धोबी के पाट की तरह उस पर लात पछाड़ रहे हो।' आवाज आयी।

रमानाथ ने उलट कर देखा, उमानाथ खड़ा था। उसे देखकर उसके सर्वांग में आग लग गई। तमक कर उसने कहा,—तुम इसकी कैफियत लेनेवाले कौन होते हो? मेरी जो इच्छा, सो मैं कर रहा हूँ। तुम बेसरोकार व्यक्ति दखल देने के लिए बीच में क्यों टपक पड़े?

उमानाथ ने धीरज रख कर कहा, मालूम होता है, तुमने बुद्धि बेच खाई है।

—'हो सकता है, पर तुमसे पैंचा लेने कभी नहीं गया।'

—अरे, अबोध बच्ची का मारने से क्या फल, बेहतर होता कि मुझ पर रोक लगाते।

—'अगर मैं मारूँ तो तुम्हारे सिर में कैसा दर्द? मेरी इच्छा, लड़की है, चाहे मारूँ या दुलारूँ।'

—'देखता हूँ तुम्हारी अकल ठिकाने पर नहीं, बहुत दिन से तुम पर मार नहीं पड़ी है, इस कारण तुम शेर हो गये हो। आज हमारे हाथों तुम्हें मार खाना है।

रमानाथ बड़े भाई के अत्यन्त निकट खिसक आया और लगभग देह भिड़ा कर ही बोला—आजमा भी लो।

उसी दम उसके गालों पर दो झापड़ जमा कर उमानाथ

कहने लगा. तुम ने मन में किया क्या है कि हमारा यह अधि-कार छिन गया ? मैं उमानाथ हूँ, तुम्हारा बड़ा भाई।

थप्पड़ खाकर पहले तो उमानाथ भय-विस्मय से सहम-सा गया पर दूसरे ही क्षण उसकी जबान विष वमन करने लगी। क्रोध, अपमान, ग्लानि की दुस्सह ज्वाला से उसका सर्वाङ्ग जर्जर हो जाने लगा। चूंकि उमानाथ की शक्ति की गाँव भर में शुहरत थी, इसलिये गाली-गलौज की बौछार के अलावे शरण लेने लायक अन्य युक्ति थी भी क्या ? दुधारी तलवार की तरह स्वामी–स्त्री दोनों ने आसमान सिर पर उठा लिया। नुनकी अपराधी की नाईं सिसकियाँ भर रही थी। इस अया-चित हलचल में सामाजिकता का ख्याल लोगों को वहाँ तक ले आया। एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। उमानाथ के सींग बाँध कर लड़ने आने, वह भी घर बैठ कर, यह अन्याय सब पर जाहिर किया गया। उमानाथ मौनी बना रहा।

कुछ दिन बाद।

वही हुक्का था, और वही चिलम, पर आज उमानाथ उससे जोरों की आवाज नहीं निकाल सकता। मुँह लगा कर भी बड़ी देर के बाद दम लगा रहा था। आग ठंढी हो गई थी, धुआँ भी नहीं निकल रहा था तथापि वह पी रहा था, अन्य-मनस्क होकर। आँखों में चन्द तस्वीरें थीं और हृदय में कुछ विचार। वह सोच रहा था।

यह एक दुनिया है, जिसमें हम रह रहे हैं और एक सबसे अपनी दुनिया दिल की है, जो प्रत्येक से अलग करती है फिर अपना और पराया का विचार कैसा? सब अपने लिए अपने हैं, दूसरों पर किसी का क्या अधिकार? दुनिया में ऐसा ही एक रहस्य-जाल है कि लोग जान-सुन कर उससे जा लिपटते हैं। नुनकी, ईश्वर उसे लोमस की आयु दे, दूधों नहाये, और पूतों फले वह। इससे अधिक हम उसका और कर क्या सकते हैं। अधिकार भी क्या है? इस दो दिन की दुनिया में माया ही की तो प्रबलता है। माया, ठगने वाली माया! वह गुनगुनाने लगा, माया महाठगिनी हम जानी।

आज लगातार कई दिन से जो चिन्ता, जो दुख रुद्ध वाष्प की तरह उमड़ते हुए उसके अन्तर में उथल-पुथल मचाये थे, जाते रहे। उसने श्वस्ति की साँस ली। मालूम पड़ा, सिर से कोई भार उतर गया। उड़े हुए चेहरे पर शान्ति की सौम्यता प्रतिफलित हो गई। जो ससार कुछ दिन से उसे बहुत ही असुन्दर प्रतीत हो रहा था, पल में मनोरम मालूम हुआ। आकाश कितना उदार है, आकाश में कैसी मनोहर उज्ज्वलता है, आनन्द में भर कर पक्षी कितना सुन्दर गाते हैं, कैसी मीठी-मीठी तान! उसे जान पड़ा कि बरसों जेल के संकीर्ण, प्रकाशहीन दुर्गन्धित कमरे से निकल कर वह अभी-अभी उन्मुक्त आकाश के नीचे आ खड़ा हुआ।

शुष्क आँखें सजल हो आईं। पेट ने भोजन की माँग की। उसकी बड़ी इच्छा हुई कि कुछ खाकर सोवे। कई दिन से

भूख, प्यास, निद्रा का उसने कतई तिरस्कार कर दिया था। इसके बाद वह करता क्या, पता नहीं, पर उसके कानों में पहुँचा, बड़का बाबू।

वही अपरिचित आवाज, मीठी-मीठी, चंचल, सुन्दर! सामने नुनकी खड़ी थी। आँखों में आनन्द का नूर और भय जनित आतुरता। संदिग्ध समन्वय। काले बादलों में अलक्षित आर्द्रता की उज्ज्वलता जैसा। माँ के शासन पर असहाय, अबोध बालिका की विजय। कड़ी निगाहों पर भी चातुरी। अपने मोती-से दांतों को बिखेर स्नेहस्निग्ध सरल वाणी में उसने कहा, मैं अम्मा के पास न रहूँगी, तुम्हारे ही पास रहूँगी।

उमानाथ का मुखमंडल छायाच्छन्न हो गया। नुनकी का हाथ धर कर वह चल पड़ा। नुनकी ने इस प्रकार उसका अनुसरण किया, गोया किसी निपुण शिल्पी ने अत्यन्त रमणीय बालिका मूर्ति में विस्मय की कुशल अभिव्यंजना की हो। उमानाथ गया तो गया, एकबारगी रमानाथ के आँगन में उपस्थित।

—'कहाँ है रे रामा, अब बता कि मैं तुम्हारे दरवाजे पर पिशाब भी करने आता हूँ? फिर क्यों यह हमारे पास जाती है? उसदिन तो तुमने लोगों से कहा था कि मैं उसे पैसे, मिठाई आदि का प्रलोभन देता हूँ। अबोध बालिका चली जाती है। मगर आज, वह लड़ पड़ने वाली सूरत दिखाते

क्यों नहीं। उधेड़ दो इसकी खाल, मैं यदि चूँ भी करूँ तो....
...........नहीं।

उसी आवेग के साथ नुनकी का हाथ छोड़ कर वह निकल गया। नुनकी ठगी-सी खड़ी रह गई।

उसी दिन

लगभग आधी रात। घोर सन्नाटा। अंधकार से लिपट कर सारा गाँव निद्राभिभूत। चमगादड़ों का फड़फड़ाहट, कुत्तों के झाऊँ-झाऊँ और मच्छड़ों के गीत। निंद्रा ने उमानाथ क आँखों को चूम लिया था। इसी समय नीरवता की छाती पर दाल दलती हुई एक मोटर द्वार पर आ लगी। उमानाथ बाहर निकला, मगर किसी को न देख सका। सूनी मोटर केवल खड़ी थी।

जानकारी के लिए बड़ी देर तक वह खड़ा रहा। तब तक रमानाथ के आँगन से कोई निकला।

कौन जद्दू ?—उमानाथ ने पूछा।

हाँ, मैं ही हूँ भैया।—उत्तर मिला।

'क्या माजरा है ?'

नुनकी की हालत नाजुक है। डाक्टर आये है।

हालत नाजुक ! उमानाथ के हृदय में एक पृथ्वी उलट गई। आँखों ने कुछ न देखा। वह अन्दर गया और तुरन्त बाहर आया। जिस समय चिकित्सक महोदय नुस्खा लिख

रहे थे, उसी समय उनके पैरों पर रुपये की थैली रख कर वेदना - विकृत वाणी में उमानाथ ने कहा, डाक्टर साहब, मेरी नुनकी को बचा दीजिये। इसके आगे वह कुछ न बोल सका।

आश्चर्यचकित दृष्टि से उसे देखते हुए डाक्टर ने तसल्ली दी, उसे हुआ क्या है कि आप इतना अधिक घबड़ा रहे हैं? कल सवेरे तक वह बिलकुल अच्छी हो जायगी।

उमानाथ पागल की तरह प्रलाप कर उठा—उसे भली होने भी दें! वे जानवर की तरह रात-दिन पीट ही रहे हैं। अब न देखता हूँ कि कौन उसका शरीर स्पर्श करता है। जितना ही इन लोगों से कुछ न कहो, ये सिर पर सवार होते आते हैं। मगर डाक्टर साहब, आप को आज रात भर यहाँ रहने का कष्ट करना ही पड़ेगा।

इसके अनन्तर डाक्टर साहब के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह नुनकी के पास गया। वह टुकुर-टुकुर ताक रही थी। उमानाथ को पास में देखकर बोली—बड़का बाबू।

उमानाथ को अपनी बाहु-लता में वह लपेट लेना चाहती थी। एक हाथ उसकी पीठ पर रखकर उसने पूछा, अब जी कैसा है बेटी?

—अच्छा है।

—'कहाँ डरी भी थी कभी?'

—आज ही आँगन में।

—क्या डर लगा था बेटी?

—यही कि तुमने मुझे छोड़ दिया!

एक उनींदी रात

देर हो चुकी कि मैं बत्ती बुझा चुका हूँ। अब सो रहा हूँ। सो भी क्या रहा हूँ, होते हुए भी जैसे खो रहा हूँ। अवसाद, विस्मृति और अन्धकार मेरी जागृति, चेतना और अस्तित्व पर छापा मार बैठे हैं। इस दुर्भेद्य अन्धकार के अन्तर में एक यह निस्पंद जीवन विधवा के हृदय में पति की करुण असहाय याद की तरह जाग रहा है।

रवीन्द्रनाथ की एक कविता याद आ रही है। एक नन्ही बच्ची। हवा के दुष्टता-भरे खिलवाड़ से आँचल की आड़ में चिराग को बचाये जीने से उतर रही है। सावधान! धीरे-धीरे—पा-पा। कि बत्ती बुझ जाती है और वह रो उठती है। बाप छत पर चैत की तारों-भरी रात देख रहा था। पुकार कर रोती बच्ची से पूछा—रोती क्यों है? बच्ची बोली—ऊँ ऊँ, मैं खो गयी हूँ। जिस दिये में वह अपने को, अपनी राह को देख रही थी, वह बुझ गया था! सच ही तो, प्रकाश ही अस्तित्व का प्रकाश है। मन के अन्धकार में हम जीवन को खो देते हैं।

और मैं जाग ही रहा हूँ, क्योंकि नींद नहीं आ रही है। न कोई घाव है, न कोई चाव और न भाव ही। मन खाली

पड़ा है, बाँझ की गोद-सा, भिखारिन के आँचल-सा, विधवा को माँग-सा। हाँ, विधवा ही की माँग-सा। कुमारी और विधवा की माँग का रूप एक है, स्वरूप एक नहीं। दोनों के बीच में जो विभाजक रेखा है—वह है समाज की निष्करुण दुष्टता। एक माँग भरी जायगी, दूसरी सदा को धुल गयी। खैर, उसकी कोई बहस नहीं। मैं कहना चाह रहा था, मेरा मन सूना है। कब्र में लाश जैसा अन्धकार में एक जीवित जीवन निर्जीव पड़ा है।

आज कोई नई बात नहीं। जीवन के लम्बे धागे में जितने दिन की गाँठें पड़ीं, उनमें अनेक रातें आँखों में बीती हैं। कभी कारणवशतः, कभी यों ही, अकारण। ऐसी उनींदी रातें आँखों पर पाँव धरकर बहुत गयीं। कभी विरह-व्याकुल, कभी मिलन-विह्वल, कभी भाव-शून्य। बहुत बार ऐसा हुआ, जब नींद का स्निग्ध स्नेह जी जला गया; और बहुत बार ऐसा भी हुआ, जब जलती पलकों में नींद का सुकुमार प्यार जल गया। आपको भी शायद यह अनुभव हो।

और ये मच्छड़ आ धमके हैं। कानों में गा रहे हैं। अंगों को काट खा रहे हैं। इनका अपना घर नहीं, मेरा घर ही इनका अपना है। गन्दे कोनों में मकड़ों के जाले के पास दिन भर ये बैठे रहे। अब मजदूर की तरह दल-बाँधकर कारखाने में आ गये हैं। और ये शायद खटमलों की चिकोटियाँ है। खाट ही इनका संसार है और चोरी-चुपके खून

पी लेना पेशा। और कुछ चींटियाँ आ जुटी हैं—खटमलों के शिकार में। यह पहाड़-सा बदन जब उन पर ऐंठ जाता है, तो वे काटकर जलन पैदा कर देती है। छोटे हैं तो क्या? हस्ती ही तो है। ये नन्हें जीव सृष्टि के उस प्राणी को बेचैन बना रहे हैं, जिसकी बाहुओं में स्वर्ग-नर्क बनाने का बल है। मगर समय के पासे पर जिसका ज ग दॉव पड़ जाय। सबके सौभाग्य के हँसने का क्षण होता है। विस्तृत सीमा में असंख्य लघुता आ जाती है। समय पर एक लघु कण में सीमाहीन समाहित हो सकता है। और, ये तो जीव ही हैं, धूल की बात सोचता हूँ—पाँवों की ठोकरें ही जिसको प्राप्ति है और शीश पर चढ़ जाना जिसका सौभाग्य।

और बूढ़े रामनाथ ने बगल में भैरवी छेड़ दी—'कोई किसी का नहीं।' बूढ़े की नसें शिथिल पड़ गयी हैं। पूरी नींद नही आती। रात में चाहे जब आँख खुले, उसके खयाल में सबेरा हो गया। लय के जीवन से समय के संबन्ध को महत्व वह नही देता, उसके पास तो शब्दों के झीने दामन में बँधे तत्व का मूल्य है। उसे आनन्द नहीं, उपयोगिता चाहिये। इसी बाँट पर वह विषयों का सौदा कर चुका है। बेटा-बेटी, नाती-पोते की भीड़ से धरती की छाती का बहुत बड़ा रकबा उसने घेर रक्खा है, अपने-अपनों के गर्वित अधिकार की पुकार से जीवन भर आसमान सिर पर उठाता रहा। मृत्यु के द्वार तक आकर जो मिट्टी को भी दाँत से पकड़े है, दमड़ी के

बदले दम देने को तैयार है, वह सब कुछ को विराना और वीरान बता रहा है।

मैं जाग ही रहा हूँ। रात कितनी गयी, यह कौन जाने। पहलू में दिल धड़क रहा है, सिरहाने की ओर ताकपर घड़ी टिकटिक कर रही है। घड़ी और जीवन में सामंजस्य है। दोनों दम भर चलते हैं। दम रहते कोई भर नहीं सकता, मर नहीं सकता। घड़ी तथा जीवन की गति की परवशता एक है।

किन्तु वश की बात में घड़ी और जीवन एक नहीं। घड़ी चलती है, इसलिये कि उसे चलते ही रहना है। उसे न अपनी चाल पर वश है, न उसका कोई लक्ष्य ही है। वह फकत चलने के लिये ही चलती है। मनुष्य चलता है। हर क़दम पर उसके आगे प्रश्नविराम का चिह्न है—कैसे? कहाँ? कबतक? क्यों? जापानी पुतलों की तरह चाबी देने से ही जीवन नहीं चलता। जीवन की गति उद्देश्य ढूँढ़ा करती है और उसके उद्देश्य का ध्रुवतारा सदा कुहरे से ढका रहता है। यही असन्तोष, यही अज्ञान, जीवन के पाँव में बेडियाँ हैं, जीवन के स्वाद का कड़वापन है, गति का बोझ है। घड़ी चलती है, मगर जीवनमय हो कर नहीं। उसे आस-पास दूर-दूर, अपने-विराने की कोई फिक्र नहीं। जीवन के सितार को सबके सुर के साथ सुर का सामंजस्य कर चलना पड़ता है। घड़ी के जीने-मरने का काल नहीं, न ही महत्व है। वह बार-बार जीती है, बार-बार मरती है। मनुष्य एक बार

जीता है, हजार बार मरता है। सिरहाने की घड़ी जी ही रही है, और इसके जीवन में इस घर के तीन पुश्त बीत चुके।

रात की आयु कितनी हुई, यह घड़ी भी नहीं बताती। मेरी आँख और घड़ी की सुई के बीच अन्धकार का व्यवधान है। रात बीतती ही जाती है......।

बूढ़ा रामनाथ संसार के एक कठोर सत्य को भैरवी के करुण स्वर में भावमय बना रहा है—कोई किसी का नहीं। सचमुच कौन किसका है? बगल के मकान में माँ की छाती में भाव की तरह सटकर सोया शिशु भूख से जाग गया है। दूध के लिये वह रो उठा है। माँ अपनी तंद्रालस आँखों को बन्द किये ही दूध से उसका मुँह लगाना चाहती है, और वह रो रहा है। माँ नींद में माती है, बच्चा भूख से बिलख रहा है। इसे अपनी पड़ी है, उसे अपनी। माँ की जाग्रत ममता आँखों के साथ हृदय में सो गयी है; इस समय बच्चे के प्यार से अपनी नींद उसे अधिक मीठी है। बच्चा भूख के आगे माँ के विश्राम को महत्व नहीं देता। मनुष्य का कर्त्तव्य - बोध संयम से अर्जित है, सृष्टि से मिला हुआ स्वभाव नहीं। माँ का वात्सल्य जाग्रत- ज्ञान पर अवलम्बित है। सोये में उसे स्वभाव अपने सुख की ओर मोड़ता है। त्याग के कर्त्तव्य की ओर नहीं। बच्चा माँ को चाहता है। क्योंकि वही उसके सुख का केंद्र है। माँ बच्चों को चाहती है, क्योंकि वही उसकी कामनाओं का रूप

है। न तो बच्चा माँ का है, न माँ बच्चे की। दोनों अपने-अपने हैं।

बच्चा रोता है और रोता है। माँ की सुख की नींद पर चोट पड़ती है, और बच्चे को खिजला कर दो चपतें लगा कर वह नीरवता को आघात करती है। रात चीख उठती है, मानो सितार के सोये तार पर अनजान वादक के कठोर हाथ पड़ गये हों........

तो सचमुच ही 'कोई किसी का नहीं।' बूढ़े रामनाथ का अटपटा स्वर रात के रंगहीन अंतर में ज्ञान का यही गाढ़ा रंग चढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। लेकिन उस खिड़की से मैं एक कमरे को देख पाता हूँ। एक सबल शरीर में दुर्बल मन की तरह उसमें एक धीमा-धीमा प्रकाश जल रहा है। उस धीमे प्रकाश में मैं देख रहा हूँ, एक-एक दो की जगह दो काया एक हो रही है। जागते में ये भावों में, विचारों में एक हैं और सोते में देह में। और ये भी क्या एक दूसरे के नहीं ?

हो सकता है। संसार में कोई सबका नहीं, कोई किसी का नहीं, किंतु कोई अपना भी हो सकता है ? मैं क्या अपना हूँ ? यह देखिये, मीनी को तो आपने देखा होगा—चित्र-सी सलोनी, लट्टू-सी चंचल, रिकार्ड-सी बोलती बच्ची। जो संसार का कुछ नहीं जानती। मगर यह सत्य उसका विश्वास है कि मैं उसका पिता हूँ। और उसके पिता का भी पिता है, जो मुझे अपना बेटा मानता है। मीनी की माँ है, जो सती की एक मात्र गति मुझे अपना पति मानती है। उसने मेरे जीवन में

जितने फूल खिलाये, उनसे कहीं अधिक काँटे चुभाये। फिर भी वह अधिकार के साथ मुझे अपना कहती है। एक मैं हूँ—किसी का बाप, किसी का बेटा, किसी का पति, किसी का नौकर, किसी का मालिक। सारे संसार का मुझ में किसी न किसी रूप और परिमाण में हक है। मैं जी रहा हूँ; मुझ पर बहुतों का रोना-धोना निर्भर करता है! मैं मर जाऊँगा, लोग भी मुझ पर रो-गा लेंगे। किसी का न होते हुए भी मैं बहुतों का कुछ न कुछ हूँ। औरों के लिये ही मेरे मरने जीने का मूल्य है। और यह बेचारा 'मैं' क्या है?

दार्शनिकों ने जनम भर की तपस्या का सुफल पाया है—मैं अहं है, और यह अहं का ज्ञान ही सारे अनर्थों का मूल है। अहं को आदमी खो दे, तो आत्मा-परमात्मा एक हो जाय। आत्मा-परमात्मा की तस्वीर हो, परमात्मा आत्मा की। लेकिन यह अहं खोया भी जा सकता है? सुनते है, 'तवास्मि' (मैं तेरा हूँ) कहने से आदमी उस महान् सीमा की शरण में जा रहता है। हो सकता है, यह ठीक हो, लेकिन 'मैं' का अस्तित्व तो यहाँ भी कायम ही रहता है। निजत्व को छोड़ कर आदमी क्या लेकर जाय और वह महान् किसी के अस्तित्व को छोड़ कर अपनाये भी क्या? 'तेरा' होने में भी 'मैं' है। 'मैं तू हूँ' में भी 'मै' है। मैं के बाहर कहीं कुछ नहीं। 'मैं तेरा हूँ' और 'मैं' तेरा। आदमी अगर सब तरह से पराया हो जाय, तो भी कुछ हो जाय; मनुष्य अगर सब तरह अपना हो सके, तो भी कुछ बन जाय। मनुष्य

का दुःख है, दुर्भाग्य है, कि न वह औरों का हो सकता है, न अपना ही। खोना भी निजत्व का विकास है, अपने में सबको समेट लेना भी 'मैं' का विस्तार है। निजत्व का विस्तार ही सृष्टि का ध्येय है, जीवन की साधना है, ईश्वर की आज्ञा है!

बूढ़े रामनाथ का गाना थम चुका है। अब ज्ञान कर्म से हार चुका है। माथे पर अंगोछा बाँधे, कान पर दतवन रक्खे वह लोटा लिये चल पड़ा है। मृत्यु की देहली पर आकर भी कर्म की बेगारी का बोझ वह उतार नहीं सका। आफिस के बाद सिनेमा, टहलना और खेल-कूद के मनोविनोद की तरह कर्म की भीड़ में ज्ञान एक मस्तिष्क-मनोरंजन-सा है।

सामने के बूढ़े नीम पर एक कौआ अपने बच्चे को उड़ाने का प्रयत्न करने लगा है। अब, उसके पेट के माँ-बाप जिम्मेदार नहीं। दो चिड़ियाँ पीछे के बकाइन पर चहक उठीं। मैंने खिड़की से आँखें दूर तक दौड़ायीं—प्रकाश में अन्धकार रो रहा था। आकाश के तारों-अश्रु सूख रहे थे और धरती पर ओस की बून्दें दिखायी देने लगी थीं। पृथ्वी की लाश ने जैसे अंगड़ाई ली। जीवन का हलका स्वर हलकी-हलकी हवा में काँप उठा। मैंने चादर से मुँह ढँक लिया। पृथ्वी की सुरभित साँस मुझे छूने लगी थी, सवेरा हो चुका था।

समानान्तर

हर ऐसी चीज, जिसे देखकर आप खुश होते हों, ऐसी नहीं होती कि आप उसे पाकर भी खुश हों। पुस्सी का परिचय इससे अच्छा तो दिया जा सकता है, पर सच्चा नहीं। आप उसे देखकर जरूर खुश होंगे। काश कि मैं कोई कहानीकार होता, फिर तो उसको सच्ची और खुशनुमा तसवीर आँखों के आगे खड़ी कर देता। बहुत ही प्यारी है वह देखने में। पूँछ तो उसकी-सी उसी की है, गोया ईश्वर ने उसे अपने हाथों बनाया हो। देखते ही जी का प्यार उमड़ आता है। परन्तु पुस्सी तन की जितनी सुन्दर है, मन की उससे आधी भी नहीं। शरारत की पुड़िया है समझ लीजिए। हम-आप तो उसकी हरकतें एक दिन को भी बर्दाश्त न कर सकें। यकीन मानिए आप, पुस्सी दुनियाँ के इस कठोर सत्य का एक सबूत है कि हर फूल, जो सुन्दर होता है, उसमें खुशबू ही नहीं होती, बदबू भी होती है।

मगर किसी की तबीयत को क्या करिए। बिनू जो है, सो उसीको जान-प्राण समझती है। बिनू से मेरा मतलब विनती से है—डिप्टी साहब की लड़की। आपने देखा जरूर होगा उसे, याद भले ही न हो। स्कूल जाती-आती है। रूप

की धनी तो नहीं, मगर उसकी हरकतों में खींचने की शक्ति है। खैर, जाने दीजिए। मैं यह कह रहा था कि बिनू की आँखों से पुस्सी पल भर को ओझल हो, तो वह दुनिया में अन्धकार देखती है। घर के और लोग भी पुस्सी की उतनी नौकरी बजाते हैं, जितनी कि उनका नौकर खुद उनकी नहीं बजाता। मगर सच पूछिए, तो घरवालों का यह प्यार दिल का नहीं। उसमें सत्यता तो नहीं, ज्यामितिक तौर पर स्वाभाविकता जरूर है! बिनू पुस्सी पर जान देती है और घर वालों की जान-सी है बिनू। सो पुस्सी को प्यार सबका मिल जाता है। बिनू की तो पूछिए मत। खुद भूखी रह जाय, मगर क्या मजाल कि पुस्सी के व्यंजन में कमी हो। माँ देवता-पित्तर के बाद पाए हुए इकलौते पूत की भी इतनी कद्र नहीं करती होगी। लिए-लिए ही रहती है। और क्या बताऊँ, सुलाती तक साथ ही है। पिछली बार आधी रात को धरती डोल उठी। लोग जान लिए-लिए भागे। बिनू पुस्सी की खोज में, जो चूहों की टोह में कहीं कोने-कतरे में थी, लग गई। मौत को सामने देख भी पुस्सी को वह न भूल सकी। उसकी ओठों पर पुस्सी की जैसी बड़ाई लगी रहती कि कोई क्या अपने बाप-दादों की कीरत का बखान करेगा। उसकी समझदारी, उसके शिकार की सफाई आदि का गुण-कीर्तन कोई बिनू से सुन ले। यानी यह कहिए कि पुस्सी की किस्मत बुलन्द है। हम आप जिन चीजों को आँखों देखने को तरसते हैं, पुस्सी के लिए वे सहज सुलभ हैं। दईमारी

गुदगुदे गद्दे को छोड़ जमीन पर बैठती नहीं। यह मिजाज है!

किसी के भाग्य पर जलना अच्छा नहीं, पर माफ करें साहब, मेरी जगह आप होते तो अबतक न जाने क्या कयामत बरपा करते। मैं तो सिर्फ जल-जलकर ही रह जाता हूँ। आज दुनिया में लाखों मनुष्य के बच्चे गोबर धोकर दाने बीनते और उसी पर जीते हैं। इस बड़ी बात को मद्दे नजर रखते हुए मैं पुस्सी की समस्या को नहीं सोचता। यह तो नेता जैसा कोई बड़ा दिमाग वाला ही सोचे। मैं तो इस सबब से सोचता हूँ कि मेरी बीवी वहाँ नौकरानी है। लोग उसे सुखिया कहते हैं। सब चूँकि सुखिया कहते हैं, इसलिए मैं उसे सुखेदेवी या सुखदा कैसे कह सकता हूँ? याने आम तौर से जिन औरतों को लोग देवी कहते हैं; उनसे मेरी सुखिया में कोई खास फर्क नहीं। देवीपना तौलने का कोई तराजू होता, तो हम किसी फैसले पर पहुँच पाते। हाँ, शिक्षा, वस्त्राभूषण आदि का आडंबर उसे नसीब नहीं, जिसकी आड़ में अनेक नर्क बनते-बिगड़ते हैं। सुखिया परी चाहे न हो, बदसूरत नहीं है। मैं उसके रूप का परिचय दूँ तो वह वैज्ञानिक विश्लेषण होगा; क्योंकि इस सूखे जीवन में कवित्व पनप नहीं सका। हाँ, इतना कह सकता हूँ, भाग्य से उसे भी कोई फिल्म डाइरेक्टर मिल गया होता, तो उस पर भी हजारों जीते-मरते होते। लेकिन इन बातों से क्या, जब वह नौकरानी है, तो देवी कैसे हो सकती है? कोई गरीबिन देवी कैसे हो?

जानवर को गोद मिल सकती है, मानव को शरण भी दुर्लभ। पत्थर के लिए सिंहासन है, जीवन को जमीन भी नहीं।

यह तो दुखिया ही है कि धरती की तरह सब सहती है। मैं ने तो कह दिया था उससे कि देख, सम्मान से कोई जहर दे तो पीकर मरना भला; मगर अपमान से हमें अमृत नहीं चाहिए। भूखों मरना मंजूर है मगर तू बिल्ली वाले डिप्टी की नौकरी छोड़ दे।

किन्तु उसमें मेरी तरह भावुकता की भाफ ही भरी नहीं है। विचार भी है। वह बोली, बन्दूक वाले रायबहादुर को देखा है? लाट आते हैं, तो न्योता मिलता है। मगर दारोगा को वह दही भेजता है, ताकि वह कुछ ऐसी रपट न लिख दे कि बंदूक छिन जाय। यही आजकल के सम्मान का मान है। अपमान पर ही इसकी इमारत खड़ी होती है। हम गरीब ठहरे, रोटी के मुहताज हैं। मान-अपमान की सोचें तो कै दिन काम चल सकता है?

मेरा मुँह बन्द हो गया, पर मन शान्त न हो सका। कहीं मैं सुखिया होता, तो पुस्सी कब की दुनिया से उठ गयी होती। और सुखिया है कि अपनी सौत-सी पुस्सी का मल-मूत्र भी साफ करती है। मैं तो खून के घूँट पीकर रह जाता हूँ। क्या करूँ! उस दिन का वाकया सुनिए।

सुखिया की गोद में दो साल का बच्चा है। इस दुधमुँहें बच्चे को वह घर छोड़ किस पर जाय। साथ ही ले जाती है, बेचारी। यह नहीं कि बच्चे की वजह से काम में खलल

पड़ता हो, लेकिन लोगों के दिल पर जैसे कोई बोझ आ जाता है। और यह अमीरों का बच्चा भी नहीं कि बिना लोरियों के सोता न हो, या बिना दाई के खेलता न हो। पेट भरा है, तो हवा में ही किलकारियाँ भरता रहे। धूल में ही उसे दूध और मेवे के तत्व मिल जाते हैं। यों तो कभी किसी ने खोलकर कुछ नही कहा। परन्तु उसदिन ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो गयी कि बात बढ़ गयी। भगवान् जाने, कब और कहाँ बिनू ने कप में पुस्सी का दूध रखा था। वह दूध उसे न मिला—खाली कप पड़ा था। बस, बम की तरह वह सुखिया पर ही फट पड़ी। दूध के साफ हो जाने के और भी कारण हो सकते हैं, यह कौन सोचे। इलजाम सुखिया पर आया। हो न हो, दूध सुखिया ने ही बच्चे को पिलाया। बेचारी सुखिया ने सच्चाई के सबूत के लिये ईश्वर की कसम खाई। रो दिया। मगर यह दाग न धुल सका। गालियों का सारा पुराण उस पर झाड़ दिया गया। पुस्सी जीभ से ओंठ चाटकर दूध की धोई बनी रही और सुखिया के पाक दामन पर कीचड़ उछाले जाते रहे।

सुखिया मेरी बीबी है, इसलिए औरों से वह मुझे ज्यादा ठीक जानती है। उस दिन काम पर से लौटा, तो उसके ओंठों पर बनावटी हँसी खेल रही थी। यों मुझे लोग होशियार नहो कहते; पर इतनी छोटी - छोटी बात भी न समझता होऊँ, सो बात नहीं। मैं समझ गया कि कुछ-न-कुछ बात जरूर है। परन्तु चुप रहा। दूसरे दिन सबेरे सुखिया

जब जाने लगी काम पर तो उसने कहा—लल्ला को अब घर ही रखो। बड़ा तंग करता है वहाँ। अब पेट में इसके शरारत घर करने लगी है। मैंने कहा—मगर मैं तो लड़के का बाप हूँ, माँ नहीं। जब तुम ही ऊब जाती हो, तो मेरे कै छटाक धीरज है। नहीं भाई, यह मुझसे होने का नहीं। अपने फरजन्दे बुलन्द एकबाल को आप ही सम्हालिए।

और कोई स्त्री इस बात पर बिगड़ उठती या नहीं, मैं नहीं कह सकता। पर सुखिया नहीं बिगड़ी। क्रोध को जगह उसकी आँखों में आँसू भर आए। और उसने कल की सारी कहानी कह सुनाई। मुझे तो क्रोध आ जाता है, सो विचार भूल जाता हूँ। जी में आया, चलकर इस डिप्टी के बच्चे को अच्छा-सा सबक दूँ। उसकी हकीकत मुझसे छिपी नहीं, घूस के रुपयों पर यह ठाट-बाट है। और बईमानी के साये में इन्सानियत भला कब पनप सकती है। मगर इस पुम्सी को ....। मैंने सुखिया से कहा, शास्त्रों में ठीक ही औरतों को अबला कहा है। तुम इतने बड़े अपमान को बार-बार पी जाती हो और यह अदना-सा काम तुमसे नहीं हो सकता कि दे मारो दईमारी बिल्ली के बच्चे को। सारा किस्सा ही खत्म हो जाय।

उसने कहा—उस बेचारी बेजबान जीव का क्या कसूर है कि मै यह पाप करूँ ?

मैं बोला—तुम तो ठीक महात्मा बुद्ध की पोती-सा उपदेश देने लगी। महात्मा बुद्ध जिस जमाने में हुए, तब जीवों पर

दया की जरूरत रही होगी; क्योंकि तब आदमी इतने दयनीय नहीं थे। अब तो कुत्तों की कीमत हजार-हजार है, इंसान के बच्चे माँ-बाप की भूख से आठ-आठ आने पर बिक जाते हैं। बड़े लोग चिड़ियाखाना बनाते हैं और गरीब फुटपाथों पर दम तोड़ते हैं।

उसी सरलता से सुखिया बोली—आप ठीक कहते हैं, मगर दोष पुस्सी का नहीं।

'और किसका है ?'—मैंने कहा—उसीने तो इन आदमियों को जानवर बना दिया है। मान लो, लल्ला को तुमने दूध पिला ही दिया, तो क्या गुनाह किया। उस पुस्सी से इसकी जान क्या कम प्यारी है ? स्वर्ग की तरह शुद्ध और सुंदर इस शिशु पर पैसे के आशिकों को प्यार नहीं आता, दया नहीं आती ?

सुखिया ने कहा—तुम तो सतयुग की बात करते हो। लो, बच्चे को सम्हालो। देर हो रही है।

मैंने बिगड़ कर कहा—बेर-सबेर की जाने दो, अब तुम्हें काम पर नहीं जाना। भूख और इज्जत की तौल को मैं बराबर नही कर सकता। पैसे हैं तो ये पाप के पुतले भी देवता की तरह पूजे जायँ। हम भूखे हैं, तो ईमानदार होकर भी आदमी नहीं—इस पुस्सी के बराबर भी नहीं। जो तुम्हारे पाँव हैं, वह डिप्टी की बीवी-बेटी का मुखड़ा भी नहीं। जरा आईना देखे !

लेकिन फिर भी सुखिया काम पर गई। मुझे नाराज करके नहीं, समझा-बुझा कर। मैं पाँव से लाचार, मिहनत-मजूरी कर नहीं सकता। आखिर इतने-इतने पेट साधु कैसे बन जायँ। मैं भी चुप हो रहा। दिन जाने लगा। लल्ला मेरे ही पास रह जाता। लेकिन उस पुस्सी ने एक दिन और ही गुल खिला दिया। नीचे के कमरे में बिनू के प्रसाधन की मेज थी। अमरीका, इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, सभी राष्ट्रों की खुशबू का खजाना था। मेज पर एक बहुत बड़ा बेशकीमत आईना था। जिसके पीछे छिपकिली थी या चूहा था, भगवान् जाने। पुस्सी की शिकारी आँखें पड़ गईं। वह जर्मन झपट्टे-बाज की तरह टूट पड़ी। आईना पक्के को फर्श पर आ रहा और किसी प्रेमी के दिल की तरह उसके टुकड़े - टुकड़े हो गए।

पुस्सी तो नौ दो ग्यारह हो गई थी। इसलिए करतूत सुखिया की ही समझी गई। बेचारी सुखिया पर क्या गुजरी, क्या आँधी-पानी आया, अदाज किया जा सकता है। अखीर में बात यहाँ खत्म हुई कि आज के बाजार में यह आईना मिलने का नही। यह तो अमुक रईस पेरिस से ले आए थे। उनका जब एक मुकदमा डिप्टी साहब के इजलास में आया तो इसी आईने के उपहार से खत्म हो गया। अब सुखिया की तनखा से हर माह दो रुपए कटते रहेंगे।

रुपये कटते भी रहे। डिप्टी ही ठहरे। किसी की गर्दन ही काट ले तो कौन देखता है। मैंने सब सुना। सुनकर चुप

रह गया जैसा कि हर बार चुप रहता आया था। हम चाहे बैठे ही रहें, पर दिन कब बैठा रह सकता है! हफ्ता बीता, महीना गया और महीनों निकल गए। इधर सोच-फिकर से सुखिया की तंदुरुस्ती बहुत गिर गई है। जिम्मेवारियों का बोझ उसपर ज्यादा बढ़ गया है। मेरी बीमारी बढ़ गई है। काम-काज के सिवाय मेरी सेवा में त्रुटि न हो, उसे इसका भी ध्यान है। बिनू की पुस्सी एक जख्म मोल ले बैठी है। सुखिया को इस वास्ते मवेशी अस्पताल की भी हाजरी बजानी पड़ती है। पुस्सी ने कुछ दिन हुए तीन बच्चे दिए थे। तीन में से दो को तो उस भगवान् ने उठा लिया, जिसने भेजा था। एक इकलौता रह गया। गजब का शैतान कम्बख्त, आफत की पुड़िया-सा। इस बच्चे के बाप का तो पता नहीं। कोई रहा जरूर होगा। किन्तु पुस्सी को पुत्रवती होने का सौभाग्य देकर ही वह चलता हुआ। तबसे उसकी कभी परछाई नहीं दिखाई दी। आदमी की तरह ये जानवर इतने हीन नहीं कि किसी औरत को संतान का सौभाग्य भी दें और जिंदगी भर रोटी-कपड़े का भार भी ढोते चलें। किंतु इधर पुस्सी के बच्चे का एक चचा कहाँ से चला आया है। और चचा के प्यार का रूप यह है कि बच्चे को चट ही कर जाय। बहुत रात गए चचा चोरी-चोरी आते और धावा बोल देते। पुस्सी से कई दिन उसकी चीन-जापान की लड़ाई हुई। एक दिन अपनी भाभी के पेट में बड़ा-सा घाव बनाकर पुस्सी के बच्चे का चचा चला गया! अब वह नहीं आता, पर पुस्सी अस्पताल रोज जाती है। और मेरी सुखिया की गोद में!

एक दिन मैं तकलीफ़ से बेकल हो उठा। बे-पानी की मछली-सा बिस्तर पर छटपटाता रहा। सुखिया के आने में अभी काफी समय था। मैंने लल्ला की अँगुली पकड़ी और कराहता हुआ किसी कदर डिप्टी साहब के दरवाजे पहुँचा। लल्ला को अन्दर भेजा कि माँ को बुला लावे। बच्चा ही ठहरा, अन्दर जाते ही पुस्सी के बच्चे को देख काम की बात भूल गया। उसे पकड़ने के लिए वह बच्चे को खदेड़ता चलने लगा। आखिर में पकड़ा। उसे गोद में उठाया। किन्तु आफत के उस परकाले ने बच्चे के इस बुरी तरह दाँत जमाए कि खून बह आया। उसने जोर से ढेले की तरह बच्चे को जमीन पर दे मारा। एक टाँग में उसके कुछ चोट आ गई। एक बार जोर से चीखकर वह लँगड़ाने लगा। चीख सुनते ही बिनू आई। बिना समझे-बूझे उसने बच्चे के कई चाँटे रसीद कर दिए। बच्चा फुक्का फाड़कर रो पड़ा। मैं तो मारे क्रोध के थर-थर काँपने लगा। मुँह से आवाज ही नहीं निकली। तबतक बच्चे को गोद में लिए सुखिया बाहर निकली और मेरे साथ घर चली आई। उसकी आँखों में न आँसू थे, न मुँह से बोली। और उस दिन से वह फिर डिप्टी साहब के यहाँ काम करने नहीं गई।

डिप्टी के घर के बगल में ही एक दूसरे बाबू थे। उन्होंने कई बार अधिक तनखा पर सुखिया को बुला भेजा था। वह नहीं गई थी। आज खुद वहाँ जाकर उसने नौकरी कर ली। गरीब की दुनिया, न बहुत बनी, न बिगड़ी। वही पुरानी

रफ्तार। लेकिन एक दिन एक बात हो गई। रात के सन्नाटे में बिनू की पुस्सी पड़ोस में शिकार खेलने गई। पुस्सी तो शिकार की टोह में रही और बाबू साहब के जूठनपर पलने वाला दुमकटा देशी कुत्ता पुस्सी की ताक में बैठा। होते-होते धर दबोचा कुत्ते ने पुस्सी को। कुहराम मच गया। लोग-बाग जागे। चिराग जल गए। बिनू भी डिप्टी साहब के साथ दौड़ी आई। मगर कुत्ते ने बिल्ली की गर्दन तब छोड़ी, जब वह ऊर्द्ध निश्वास लेने लगी। बिनू आँसू भरे नेत्रों से पुस्सी को ले गई। बगल के बाबू के लिए वह कुछ न कह सकी। सबेरे सुखिया जब काम से लौटी, तो उसने पुस्सी के कारुणिक अन्त की कहानी सुनाई। मैंने कहा—भगवान् सब कुछ देखते हैं। उनके हाथ-पाँव बड़े-बड़े हैं। मेरे लल्ला की छाती पर घाव का आज भी दाग है और उसके गालों पर के चाँटों की चोट मैं आज भी महसूस कररता हूँ।

सुखिया किन्तु चुप थी। उसकी आँखें सजल हो गई थीं।